श्रीमते भगवते रामानन्दाचार्याय नमः

वेदों में अवतार रहस्य

लेखक :

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

स्वामी हर्याचार्य जी महाराज

काशीपीठ एवं हरिधामपीठ गोपाल मन्दिर रामघाट

अयोध्या-फैजाबाद (साकेत) उ०प्र०

श्रीमते भगवते रामानन्दाचार्याय नमः

वेदों में अवतार रहस्य

लेखक :

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

स्वामी हर्याचार्य जी महाराज

काशीपीठ एवं हरिधामपीठ गोपाल मन्दिर रामघाट

अयोध्या-फैजाबाद (साकेत) उ०प्र०

भारतीय संस्कृति का मूल वेद है

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

[श्वेताश्वतर उ० ६।१८]

सृष्टि के आदि में जिसके द्वारा ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और वेदों के प्रकाश का दान करते हैं, उस आत्मबुद्धि को प्रकाशित करने वाले देव की मैं शरण ग्रहण करता हूँ, जो ब्रह्मा को बनाकर उनके हृदय में वेदों को प्रेरित किया । यह इसका प्रमाण है क्योंकि प्रेषण विद्यमान वस्तु का ही किया जाता है । अतः स्पष्ट हो गया कि अनादिकालसे वेद की प्रतिष्ठा है, उसी अनादि वेद को भगवान् ने ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित किया । अतः ब्रह्मा का भी ज्ञान परमेश्वर अनुग्रह सापेक्ष है। अतः आदि कवि ब्रह्मा के हृदयमें जो वेदों का विस्तार किया वही जगत् कारण परम सत्य ध्येय है ।

यह जीव सदा से अल्पज्ञ है । जगत् निर्माण में जो ज्ञान होना चाहिये वह जीव में नहीं है । जगत् कारण 'हिरण्यगर्भ'

है, उसकी महिमा अनन्त एवं अद्भुत है। उसके जगत् कारण होने में कोई आपत्ति है क्या ? **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्** । [ऋग्वेद सं १०।१२१।१] वह जीवों का स्वामी है।

वह वेद वाणी किसका विधान करती है? उपासना काण्ड में किन देवताओं का वर्णन करती हैं ? ज्ञान काण्ड में किन प्रतीतियों का अनुवाद करके उनमें अनेक विकल्प प्रस्तुत करती हैं ? इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्य को मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता। सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें मेरा ही विधान करती हैं। उपासना काण्डमें उपास्य देवताओं के रूपमें मेरा ही वर्णन करती हैं। और ज्ञानकाण्ड में मुझमें ही अन्य सभी वस्तुओं का आरोप करके निषेध भी करती हैं। वेद किसका विधान करता है और किसका अनुवाद है ? इसके हृदय भगवान् कहते हैं—मुझको छोड़कर और कोई जानता ही नहीं। वेद मेरा ही अभिधान करता है मेरा ही विधान करता है। सब कुछ प्रतिषेध करने पर जो अवशेष रहता है समस्त प्रपञ्च बाधित होने पर अजर,अमर विशुद्ध परात्पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। समस्त ब्रह्माण्ड का कारण परमात्मा है। तब वह मिट्टी, पहाड़, वन, पर्वत, नदी,नाला, वृक्ष,मूर्ति, अर्चन वन्दन, दास्य, आत्मनिवेदन वह सब कुछ है। भक्तों के भावानुरूप साधकों के साधनानुरूप एवं ज्ञानियों के ध्यानानुरूप, दार्शनिकों के तत्वानुरूप भी अवश्य बनता है। नही तो उसके स्वरूप का गान श्रुतियाँ किस प्रकार करेंगी ?

उस वेद रूपी कल्पवृक्ष में सब कुछ समाया हुआ है। "कामिल बुल्के" आदि का यह कथन कि वेदों में रामादि चरित्र का क्रम नहीं है, यह समीचीन नहीं है क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों का अनुशीलन उन्होंने नहीं किया है। अतः वेदार्थ आना अत्यन्त कठिन है। वेद कोई इतिहास या कोई कहानी नहीं है, जिसमें वंशानुक्रम का वर्णन किया जाय। बीज रूपमें सभी तत्वों का समावेश वेदोंमें विद्यमान है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द अस्थायमामभिदाम्।
माया मात्रमनूद्यान्ते प्रतिविध्य प्रसीदति ।।

(श्रीमद्भा० ११।२१।४३)

हमारा वैदिक विज्ञान इस सम्बन्ध में बहुत विचार किया है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वही प्राण शक्ति अवश्य ही विद्यमान है। प्राण के बिना कोई भी वस्तु ठहर नहीं सकती वह निष्प्राण हो जाती है। विधारण प्राण की ही शक्ति है। बिना प्राण के न किसी वस्तुमें बल रहेगा न उसका विधारण रहेगा। वह चूर-२ होकर गिर जायगी। वह प्राण भीतर भी रहता है और बाहर भी फैलता है।

वैदिक भाषा में **'होता'** का अर्थ देव या शक्ति का आह्वान कहा गया है। आह्वान द्वारा भूत तत्व को ग्रहण कर अग्निमें उसके हवन करने वाला, हवन द्वारा उसको आत्मा रूप में परिवर्तित करने वाला जो शक्ति रूप है वही **'होता'** है।

जिस बीज से प्राण की उत्पत्ति होती है, प्रजनन के द्वारा उसी बीज की सृष्टि प्रकृति का लक्ष्य है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है। इसी को संवत्सर चक्र भी कहते हैं। प्रत्येक बीज काल की जितनी अवधि में बीज तक पहुँच पाता है वही उसका सम्वत्सर काल है। यह तत्व सब लोगों को नहीं लग सकता। सब लोगों की मेधा इस तत्व पर विचार नहीं कर सकती।

बीज रूपमें जिन नामों को वेद भगवान् अपनी कुक्षिमें संजोये हुए हैं, उनका बहुत बड़ा प्रारूप एवं विस्तार स्मृतियों पुराणों और रामायण में पूर्ण ख्यात हैं अतः '**बुलके**' का यह कहना नितान्त तथ्यहीन है कि वेदोंमें रामचरित्र का पूर्वापर क्रमिक वर्णन नहीं किया गया है।

शास्त्रोंमें चार प्रकारके ज्योतियों का वर्णन किया गया है। इसी का चार पदार्थों के रूपमें निरूपण किया गया है। स्व-ज्योति, पर-ज्योति, रूप-ज्योति, और अ-ज्योति। अपने आप प्रकाश करने वाले भगवान् भाष्कर विद्युत् अग्नि आदि को स्वज्योति कहे जाते हैं। जो दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित हों वह पर ज्योति कहे जाते हैं। जैसे चन्द्रमा, दर्पण, जल आदि। जिनमें प्रकाश या ज्योति न हों उन्हें रूप ज्योति कहा जाता है। रूप ज्योति का प्रकाश हमारे वैदिक विज्ञान में इस विषय पर इसमें स्वज्योति एवं पर-ज्योति के प्राण भूत प्रकाश का दूर फैलना प्रत्यक्ष है अतः उसे सभी मानते हैं। यह पाषण विग्रह

में स्वज्योति और परज्योति दोनों के प्राण के रूप में प्रतिष्ठा की जाती है। अतः इसको वैदिक भाषा में **'प्राण प्रतिष्ठा'** कहा जाता है। तुल्य न्याय के अनुसार रूप ज्योति और पार्थिव पदार्थों के प्राण भी इसी तरह चारों ओर फैलते हैं। अतः इसको प्रतीक मानकर आरोपित किया जाता है। अतः छोटी वस्तु बहुत समीप से दिखाई पड़ती है और बड़ी वस्तु बहुत दूर से दिखाई पड़ती है। उस परमात्मा के समीप में जाने के लिए उसके छोटे अकारके रूप दिखाया जाता है। अतः उसके समीपस्थ होने में आनन्द, कोमलता, माधुर्य आदि की अनुभूति होती है। उसी को हम प्रत्यक्ष भी कर लेते हैं हमारी साधना, उपासना, प्रपत्ति भक्ति, शरणागति, अनेक रूपमें उसी ज्योति रूप परमात्मा के समीप में ले जाती हैं। इसी को वेद में **'ऋतं च सत्यं च''** के रूपमें कहा गया है।

मूल में—'ऋत्विजम्' विचारणीय है। ऋत्विजम् ऋतुओं का कारण है। यह अकेले एक रूप रहती हुयी भिन्न-२ ऋतुओं को बना नहीं सकती, जब तक उसमें दूसरे पदार्थों का योग न हो। दूसरा पदार्थ है सोम। वह चन्द्रमा से प्राप्त होता है अतः ऋतुका उत्पादक चन्द्रमा बताया जाता है। अतः वैदिक विज्ञान में सभी पदार्थ भरे हैं आज का विज्ञान जो उत्पादन करता है।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशूः क्रीडन्तौ परियातौ अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः॥

[ऋग्वेद १०।८५।१८]

यहाँ चन्द्रमा के बार-२ उत्पन्न होने की बात कही गयी है। **"नवो नवो भवति जायमानः"** यज्ञ में आगमन भी होता है और सूर्य का प्रकाशन करना भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार उस परम पिता परमात्मा का वर्णन किया गया है।

मेरे विनम्र निवेदन से वेद रहस्य में मात्र इतना ही मेरा अन्वेषण है कि वेद में सगुण साकार का भी वर्णन पूजा अर्चा का प्रतिपादन भी विद्यमान है। अक्षर वाक् इसी का प्रतिपादन करता है। इसी तत्व के द्वारा गायत्री आदि सप्त-छन्दों का भी अभिधान किया गया है।

"अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। [ऋग्वेद १।१६४।२४]

वैदिक सृष्टि विद्या—विद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्व है। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। देव-तत्व का ही दूसरा नाम शक्ति तत्व है। सूक्ष्म या अदृश्य है। इसी का स्थूल रूप अर्चा विग्रह है। यह तत्व वैदिक है। यही कहने का हमारा लक्ष्य है। प्रत्येक भूत एक—२ ढेर है, जिसकी विधृति शक्ति या देव कहलाती है। बिना देव के किसी भूत की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं है। मूल भूत देवतत्व एक और अखण्ड है। वही सृष्टि के लिए बहुभाव या नाना भाव में परिवर्तित होता है। **"एको देवः सर्वभूतेषु गुढ़ः"** यही सृष्टि का मूल सूत्र है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** इस नियम के अनुसार एक तत्व ही बहुभाव या बहुधा भाव को प्राप्त होता है। जो मूलभूत एक है, उसे वेदों में

'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है। वह ऐसा एक है, जिसमें दो तीन, चार संख्याओं की कल्पना नहीं है। परन्तु वह अपनी निगूढ़ शक्ति से स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है। वह विग्रह रूप में, वही राम कृष्ण, रूपमें है। उसी को भक्ति प्रपत्ति एवं शरणागति के रूपमें साधको, भक्तों, योगियों ने स्वीकार किया है। इसी रूपमें महापुरुषों विद्वानों द्वारा पढ़ने श्रवण करने से जो प्राप्त हुआ है उसका किञ्चित् दिग्दर्शन इस **वेदों में अवतार रहस्य** के रूपमें उपस्थापित किया गया है। इसी वेद विद्या को सृष्टि विद्या के रूपमें भी कहा गया है। यद्यपि देवों के अनेक नाम कहे गये हैं, किन्तु सब नामों के मूलमें एक ही देव प्रतिष्ठित हैं।

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं यन्त्यन्या।

[ऋग्वेद १०।७२।३]

ऋग्वेद के इस मन्त्र के द्वारा 'अवतार' पूर्व विवरण प्रस्तुत करता है। वह मूल देव-तत्व सम्प्रश्न भी कहा जाता है। आदि से अन्त तक वह एक प्रश्न या पहेली के रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

उस शक्ति का क्या स्वरूप है ? इसकी मीमांसा अनेक प्रकार से की जाती हैं। किन्तु शब्दों में उसकी इयत्ता सम्भव नहीं। जब हम विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं, तब उस मूल शक्ति को प्रजापति कहा जाता है। प्रजापति के भी दो रूप कहे गये हैं। एक अनिरुक्त दूसरा निरुक्त। एक अमूर्त्त दूसरा मूर्त्त। एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। एक ऊर्ध्व दूसरा अधः।

एक तत् दूसरा एतत् । जो एतत् है उसे ही **"इदं सर्वम्"** जो विश्वातीत रूप है वह 'तत्' है और जो विश्वात्मक रूप है वह **'इदं सर्वम्'** है। प्रजापति का एक रूप 'अजायमान' और दूसरा **'बहुधा विजायते'** कहा जाता हैं ।

शक्तः कर्त्तुमकर्त्तुं चान्यथा कर्त्तुं च केवलः ।
राम एव ततो रामे सम्मता सर्वशक्तिता ।।

ब्रह्म स्वरूप एवं सर्वज्ञता से श्रीराम तत्व का बोध होना, या कृष्ण भगवान् का बोध होना, या अन्य नामों का बोध होना, बहुधा विजायते का ही स्वरूप है । अतः श्रुति **'बहुधा विजायते'** के रूपमें सत्य सनातन परमात्मा का बोध करती है । वेदमें जो त्रिक की चर्चा की गयी है उसका तात्पर्य 'ॐ' है । इसमें अ + उ + म् अक्षर हैं । ये ही उस त्रिपाद् ब्रह्मा की भास्वती तनू हैं । इसी को ॐ के रूपमें भी कहा जाता है ।

"ततः क्षरत्यक्षरम्" अक्षर से क्षर का जन्म होता है। अक्षर या देव तत्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है, एक वृक्ष वनस्पति दूसरे पशु पक्षी और तीसरे मानव ।

वेदों की विशेषता:—वेदों की विलक्षणता यह है कि अन्य शास्त्रों में वह काव्यादि के शब्दों में प्रतिपाद्य अर्थों का ज्ञान उनके वक्ता को लौकिक प्रमाणों से होता है । दूसरे प्रमाणों से अर्थ साक्षात्कार कर वे स्वतन्त्र रूपसे शब्द प्रयोग करते हैं। अतः वे ग्रन्थ कर्त्ता कहे जाते हैं । किन्तु वेद शब्दों के वाच्यार्थ

स्वर्ग अपूर्व देवता आदि का स्फुट ज्ञान प्रमाणान्तर से सम्भव नहीं हैं।

यहाँ वह ज्ञान योग समाधि आदि द्वारा प्रसादित ईश्वर के द्वारा ही प्रदत्त है। उस ज्ञान का मूल दूसरा कोई शब्द नहीं है क्योंकि वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं माना गया है। वेद किसी के बनाये हुये नहीं हैं, स्वयं आविर्भूत हैं, अतः अपौरुषेय हैं। वेद ईश्वर कृत हैं। ईश्वर रूप ही हैं। अतः मन्त्रोंमें अक्षरों का सगुण साकार के रूपमें भी पूजन किया जा सकता है। ईश्वर के अनुग्रह से जिन परोक्ष विषयों का ज्ञान प्राप्त कर महर्षियों ने अपने शब्दों में प्रकट किया, वे ही वेद हैं। वेदों में सभी तत्वों का बीज रूपमें वर्णन प्राप्त होता है। अवतार अर्चा तत्व, सगुण साकार, निराकार, आदि का वर्णन वेदों में प्रचुर मात्रामें उपलब्ध है। अतः यह सिद्ध है कि हमारे ऋषियों ने इन सभी तत्वों का साक्षात्कार करके अपने शब्दों में मन्त्रों का दर्शन किया है।

वेद शब्दार्थ—वेद शब्द विद् ज्ञाने धातुसे निष्पन्न होता है। इसमें 'घञ्' प्रत्यथ होता है। 'घञ्' प्रत्यय का अर्थ भी भाव कर्म या करण हो सकता है। **"इष्ट प्राप्तिरनिष्टपरिहारयो-रलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः"** इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार वेद कहा जाता है। ज्ञान का विषय और ज्ञेय पदार्थ तथा ज्ञान के साधन तीनों ही वेद शब्द के वाच्यार्थ हो सकते हैं। अतः पाणिनि आचार्य ने विद् धातु का अर्थ सत्ता, लाभ

और विचारना यह तीनों अर्थ किया है। लाभ आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है। ऐसा सूक्ष्म विचार करने पर सत्ता ज्ञान और आनन्द ये तीन तो ब्रह्म के लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं। वे तीनों वेद शब्दार्थ में ही गतार्थ हो जाते हैं।

अथवा विद् धातु का अर्थ सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से पालन या जीवन और लाभ अर्थसे प्राप्ति व लय बतलाया गया है। जिससे सब उत्पन्न हों, जिसके आधार पर सब जीवित रहें और जिसमें सब लीन हों, यही ब्रह्म का लक्षण श्रुति में कहा गया है। इस प्रकार वेद शब्दार्थ में ब्रह्म शब्द का पर्याय बन जाता हैं।

अत: वेद शब्द ब्रह्म शब्द का पर्याय बन जाता है। इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्म, विद्या, और इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है। तीन वेदों के लिए "त्रयंब्रह्म" "त्रयी विद्या" और 'त्रयो वेदा:' ये तीनों प्रकार के प्रयोग यत्र तत्र समुपलब्ध होते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन शब्दोंके अर्थ व्यावहारिक रूपसे किंचित् भेद है। वेद का पहला जो ज्ञान अर्थ हम कह आये हैं, वह तो तीनों शब्दों में प्रधान है, किन्तु साधनों का भेद हो जाता है।

अनेक प्रकार के वस्तु धर्म तथा उनके परस्पर कार्य-कारण भाव का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से हुआ हो तो उस ज्ञान को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया जायगा। वही ज्ञान

यदि पूर्व के संचित संस्कारों से उत्पन्न हुआ है तो उसे विद्या शब्द से प्रकट किया जायगा। यदि वैसा ज्ञान शब्द प्रमाण से हुआ है तो उसे वेद, शब्द से व्यक्त किया जायगा। इसलिए उसका समानार्थक शब्द–वाक्, की भी प्रसिद्धि है। इतना अवान्तर भेद होने पर भी ज्ञान मात्र पर दृष्टि रखकर तीनों का समान रूप में प्रयोग बहुर्चाचित है। पूर्वोक्त प्रकार से होने वाला ज्ञान भी वेद के नाम से व्यवहृत होता है। लौकिक अलौकिक ज्ञान के साधन रूप शब्द ही आज वेद नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। आज वेद मात्र पुस्तकों का ही विषय बनकर रह गया है किन्तु वेद की पुस्तकों में वेद शब्द का और उसके अवान्तर विभागों के बोधक ऋग्, यजुः साम शब्दों का एवं सामान्यार्थक बोधक वाक् शब्द का भी व्यवहार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों के साथ ज्ञान के विषय बनने वाले अर्थों में भी हुआ है।

यहाँ विचारणीय है कि प्रत्यक्ष ज्ञान हमें किस प्रकार से होता है। प्रत्यक्ष का लक्षण शास्त्रकारों किया है। इन्द्रियों से ज्ञेय अर्थों का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान प्रकट हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। रस, स्पर्श, गन्ध, इन गुणों में देखा भी जाता है कि वे सभी गुण जब हमारी रसना, त्वचा, घ्राण, और श्रोत्र इन्द्रियों पर पहुँचकर इनसे सम्बद्ध होते हैं तभी इनका ज्ञान होता है। दूर की वस्तु खट्टी–मीठी रुक्ष शीतल–उष्ण आदि स्पर्श हम नहीं जान सकते। यद्यपि पुष्प आदि का

सौगन्ध क्या है, इसका ज्ञान हमें होता है परन्तु वायु द्वारा जब गन्ध वाले द्रव्य के अंश हमारी घ्राण इन्द्रिय में लाये जाते हैं तब होता है ।

अतः शब्दों का एक स्थान से दूसरे स्थान में उत्पन्न होने पर उसकी धारा हमारे कानों में आती है तभी उसका भी हमें ज्ञान होता है । रूप का विषय भी अपने आप में एक अनोखा है । बहुत दूर की वस्तु का भी रूप हमारी आँखों द्वारा दिखाई पड़ता है और वस्तु हमारे देखने के समय भी दूर तक बना ही रहता है । रूप या आकार का देखना भी वस्तु का देखना ही कहा जाता है, उसी प्रकार उस जगत्कर्त्ता परमात्मा का आकार प्रकार भी हमारे मन और हृदय पर पहले बनता है । ज्यों-२ वह बनता है उसी के अनुसार हमारी भावनाओं में वह श्रद्धा, प्रेम, कृपा के रूप लक्षित होने लगता है । आगे चलकर वह रूप में परिणत हो जाता है । नहीं तो आँख से सम्बन्ध होते हुए भी हमने रूप को देखा कैसे । दार्शनिक मतावलम्बी चक्षुः इन्द्रियों का वस्तु के समीप पहुँच जाना मानते है । हमारी चक्षु इन्द्रिय तेज से बनी हैं । चक्षु में जो तैजस् है वह तेज की ओर जायेगा क्योंकि नेत्रों में किरण हैं । उनका सहज स्वभाव है । स्वरूप दर्शन में जो संसार के पदार्थों का दर्शन है, वह क्षणिक एवं अनित्य है । भगवद् विग्रह का दर्शन काष्ठ, वालुका, स्वास्तिक, अक्षर, पाषाण आदि में भी वह परम ज्योति का ही दर्शन नेत्र को प्राप्त होता है । अतः

बरबस उधर आकृष्ट होकर नेत्र अपनी जाति तैजस् का अन्वेषण करता रहता है।

इसी दृष्टि से वेद के मन्त्रों में अवतारतत्व का अन्वेषण करने पर अवश्य ही प्राप्त होता हैं। ज्ञान भी एक अन्तर-तत्व है। वह शरीर के भीतर ही होता है। बाहर वस्तु प्रदेश में ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। आत्मा को व्यापक कहने वाले दर्शन इसका इस प्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा सर्वस्थान पर विद्यमान हैं। तब शरीर से दूर बाह्य प्रदेश में भी हो सकता है। आत्मा भले ही व्यापक रहे पर उसका आधार तो शरीर ही है तो आत्मा के विशेष गुण, ज्ञान, सुख-दुःख, आदि शरीर के भीतर ही पैदा होते हैं। अतः आत्मा के साथ शरीर की भी आवश्यकता है। शरीर का तात्पर्य मन से है, मन के योग के बिना ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। मन यदि नहीं लगता तो हाथी घोड़ा चाहे जो समक्ष होकर चले जायें, लोग कहते हैं मेरा मन अन्यत्र था, अतः मैंने नहीं देखा। अतः साँख्य, वेदान्त आदि दर्शनों ने ज्ञान को अन्तःकरण का ही गुण माना है। आत्मा तो निर्विकार साक्षी मात्र है। चक्षु रूप को बाहर से खींच लाता है आदि इन सब बातों से बात बैठती नहीं। अतः हमारा वैदिक तत्व यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु में उसकी प्राण शक्ति विद्यमान रहती है।

प्राण के बिना संसार की कोई वस्तु ठहर नहीं सकती

है। वह निष्प्राण हो जाती है। बल और विधारण प्राण की शक्ति है। अतः हमारे यहाँ अर्चा विग्रह में प्राण शक्ति विद्यमान रहती है। इसी तत्व दर्शन का हमारा प्रयास इस पुस्तक में है। विद्वानों महापुरुषों एवं सन्तों से जो मैं समझ पाया हूँ उसी के अनुसार इसमें जो दोहन हुआ है, वही सब तथ्य है और जो उपयुक्त नहीं है, वह मेरी अपनी त्रुटि एवं अज्ञानता ही है।

'ईश्वर और जीव'— वेद के रहस्य भाग उपनिषदों में ब्रह्म और जीव के तीन सम्बन्ध बताये गये हैं। १–ईश्वरांश जीव है। २–ईश्वर विम्बस्थानीय है और जीव उसका प्रति-बिम्ब है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण हुआ करता है और वह भी अपना केन्द्र बनाकर अपनी चमक फैलाया करता है। जीव भोग्य है और ईश्वर भोक्ता है। ईश्वर भक्ति प्रपत्ति, शरणागति से परिच्छिन्न होकर अल्पज्ञ जीवों का सर्वथा कल्याण करता है। इसी भगवत्कृपा का सम्बल लेकर करोड़ों जीवों का कल्याण हो गया। न्याय दर्शन की प्रक्रिया में अंश से अंशी का निर्माण होता है। अवयव से अवयवी की निष्पत्ति होती है। छोटे–२ धागों को मिलाकर बड़ा वस्त्र बन जाता है। एक–२ वृक्ष को मिलाकर बड़ा बन जाता है। एक-२ व्यक्ति को मिलाकर समाज और राष्ट्र तथा बड़ी–२ सेना बन जाती है। अतः अंश से अंशी का निर्माण होता है।

उपनिषदों का सिद्धान्त इससे भिन्न है। जीव अंश है और परमात्मा अंशी है। जैसे अग्नि के ढूर से स्फुलिङ्ग उत्पन्न

होती है। ढेर के रूप में ईश्वर है। चिनगारियों को जीव के रूप में अग्नि के ढ़ेर से निकली हुयी चिनगारियाँ भी अपना आयतन बनाती है। अतः जीव दास है और परमात्मा स्वामी है। जीव का ब्रह्म के साथ अनेक सम्बन्ध हैं। जन्य-जनक, स्वस्वा-मि भाव आदि अनन्त से यदि अनन्त घटाते चले जायें तो भी अनन्त ही रहता है। यहाँ ब्रह्म जीव एवं माया तीनों की सिद्धि हो जाती है।

"वेदों में अवतार रहस्य" का तात्पर्य वैदिक मन्त्रों में परमात्मा के स्वरूप का निर्धारण किया है उसमें अर्चा-तत्व की सिद्धि होती है। हमारे सत्य सनातन धर्म में मूर्ति पूजा की परम्परा वैदिक है। हम चाहे अक्षर की उपासना करें, या किसी विग्रह की उपासना भक्ति करें।

आधुनिक विद्वान आज बहुत अधिक आक्षेप करते हैं कि भारतीय संस्कृति बहुत संकुचित है। सर्वोपकारक नहीं है। अन्य धर्मावलम्वियों की बात क्या किया जाय, वैदिक धर्म मानने वालों में भी सबको वेद पढ़ाया तक नहीं जाता और न वैदिक यज्ञों को करने का अधिकार ही दिया जाता है। यह वेद मात्र मुट्ठी भर ब्राह्मणों के लिए ही (रिजर्व) कर दिया गया है। अतः इस संस्कृति का विकास बहुत कठिन है। इस पर लोगों को विचार करना चाहिये कि एक ही प्रकार का मार्ग क्या सभी लोगों के लिए उपकारक सिद्ध हो सकता है? प्रत्येक मनुष्य की रुचि और शक्ति दोनों भिन्न-२ होती है। एक प्रकार

का भोजन भी सबके लिए न रुचिकर है और न हितकर। घृत भोजन से सभी को लाभ होता है किन्तु मन्दाग्नि वालों के लिए वह अपकारक है। इसी प्रकार का एक प्रकार का वस्त्र वा रहन-सहन भी सबको रुचिकर नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक प्रकार की औषधि भी सबको लाभ नहीं करती। उत्तम वैद्य वही कहलायेगा जो रोग की और रोगी की शक्ति के अनुसार तथा उसके आदत की परीक्षा करके औषधि देनी चाहिये।

उसी प्रकार धर्माचार्य भी जो सर्वोपकारी होगा वह जो अधिकार के अनुसार धर्म को बताता हो वही कहेगा। एक लाठी से सबको कैसे हाँकेगा। जैसे शक्तिशाली भोजन स्वस्थ व्यक्ति के लिए लाभप्रद और रोगी के लिए हानिप्रद होता है इसी प्रकार धर्म की बात है। जिसका अन्तःकरण धर्म के तत्व को धारण करने में सक्षम नहीं है, उनके लिए धर्म भी हानि ही करेगा। आज अनधिकारी लोग धर्म की बात निकाल कर अधर्म की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं, इससे समाज की हानि ही हो रही है क्योंकि वैदिक संस्कृति की दोहाई देकर वेद की परम्पराओं को धूलि धूसरित किया जा रहा है। कुछ लोग वेदों को अनुपयोगी कहकर बड़ा उपहास किया करते हैं। वह यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह अपमान हमारा और हमारी संस्कृति का हैं।

अयोध्या रामायण मेला, (एक आलोक के लिए, एक निखार के लिए) जिससे समाज आज कुछ सत्प्रेरणा प्राप्त

करता, किया गया था। परन्तु खेद का विषय है कि 'तुलसीदल' पत्रिका जो रामायण मेला समितिकी ओरसे निकली वह भारतीय संस्कृति के धरोहर रामचरित्र में एक कलंक ही लगायी है।

आज भौतिकवाद के चकाचौंध में जहाँ मानव अपने को तीन भाग में भगवान् मान रहा है ऐसे क्षणिक बुद्धि के कालमें श्रीरामचरित्र से मुझे बहुत बड़ा तोष प्राप्त होता है। उस पर आज विकृत मनीषा के धनी लेखकों ने करोड़ों हिन्दुओं के हृदय पर आघात किया है जिसको भुलाने के लिए समय लग जायगा।

हमारी वैदिक संस्कृति अथाह सागर के रूपमें विद्यमान हैं, इसमेंसे जो रत्न निकाल कर उनका प्रकाश समाजमें लावे, वह पारखी जौहरी है। और जो मात्र घोंघे बीनकर समाजमें बिखरावे, जिसकी चुभन एक 'नासूर' बनकर समाज को वेदना देती रहे, वह सर्वथा निन्द्य एवं हेय है।

'तुलसी दल' में जो लेख हैं उनके लेखकों में भारतीय संस्कृतिके प्रति न आस्था है और न वेदोंके मूल का ज्ञान है। साथ ही उनका विषय और आस्था दोनों रामायण, महाभारत और वेद नही हैं। अतः जो जिसका विषय नहीं है, वह उस पर यदि कुछ कहेगा तो स्वार्थिक विकृति का रूप ही ग्रहण करेगा क्योंकि उसकी दृष्टिमें वह विषय नवीन एवं अन्वेषण के रूपमें अवतरित होती है। अपनी माँ के वस्त्र हटाकर यदि कलात्मकता का दर्शन करे, तो वह वैदुष्य, कला दोनों से हीन कही जायगी।

'बुलके' आदि का यह कथन कि रामकथा और उनका क्रमिक सम्बन्ध वेदों में नहीं है, पूजा अर्चा, उपासना की चर्चा वेदमें नहीं की गयी है ये सभी अनौचित्य पूर्ण हैं । वेदोंमें सभी तत्व विद्यमान है । अर्चा तत्व का, उपासना तत्व का, भक्ति, शरणागति आदि विषयों की चर्चा वेदों में विद्यमान है । इसमें शंका का कोई स्थान नहीं रह जाता है । हमारे विद्वानों संतों ने जो भी कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड कहा है वह वैदिक प्रस्तुत पुस्तकमें जो भी गम्भीर व रुचिकर अन्श आया है वह रामजी का प्रसाद है । और जो मेरे भ्रम या प्रमाद से त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिए साञ्जलिबद्ध क्षमा प्रार्थी हूँ । यह प्रेरणा श्रीस्वामी सीताशरणजी ने मुझे दिया कि वेदों में अर्चा विग्रह ज्ञान, कर्म, उपासना, आदि में श्रीराम तत्व परक अथवा राम तत्व का वेदों में निरूपण हुआ है कि नहीं, उस पर कुछ चर्चा होनी चाहिए। उसी समय श्रीस्वामी रामकुमारदासजी महाराज कर्मवीर भी प्रेरित किये । और कहा— स्वामीजी यह पुस्तक अवश्य ही निकलनी चाहिए । उसी के अनुरूप यह छोटा सा प्रयास हैं ।

इस पुस्तक में आचार्य रामदेवदासजी शास्त्री ने प्रूफ-शोधन आदि का कार्य बड़े श्रम से किया है अतः वह धन्यवाद के पात्र हैं । श्रीरमेशदास श्रीवैष्णव श्रीरामनाथ दासजी प्रूफ लाने पहुँचाने का कार्य यथा समय करते रहे, इनको मेरा शुभाशीः है ।

वेद बहुत गम्भीर हैं इनमें तत्वों का निकाल पाना श्रम तथा समय साध्य है । अपने में इतनी क्षमता नहीं है कि वेद मन्त्रों का अर्थ सत्य रूपमें निकाल पाऊँ क्योंकि यह ईश्वरवाणी है। इसमें विद्वानों महापुरुषों द्वारा जो श्रवण आदि करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उसी के अनुसार मेरा अल्प प्रयास है। आगे श्री जी ने अपनी कृपासे लिखवा लिया है वही कुछ निवेदन किया गया है ।

जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी हर्याचार्य

हरिधाम गोपाल मन्दिर रामघाट-अयोध्या ।

वैदिक अर्चातत्त्व

—आचार्य रामदेवदास शास्त्री

वेदों की अपूर्वता—ज्ञानार्थक विद्‌धातु से वेद शब्द की सिद्धि होती है । **इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः** । अर्थात् जिस ज्ञान से जीवन में **"सत्यं शिवं सुन्दरम्"** के भावों का विकास हो और उससे व्यक्ति, जाति तथा राष्ट्र ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण वसुन्धरा अनेक सुख समृद्धि, शान्ति, कान्ति और दान्ति से सम्पन्न हो, साथ ही तन, मन, वचन से अनिष्ट और अशुभ संकल्पों का वारण हो जाय, उसकी वेद संज्ञा होती है । इष्टप्राप्ति और अनिष्टशान्ति वेद ज्ञान से ही सम्भव है । ज्ञान का अर्थ विचार है । वेद-ज्ञान जब

हमारे आचार-विचार के अङ्ग बन जाते हैं, तभी हम उसके सच्चे पुजारी कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद ये मात्र पोथी नहीं हैं, बल्कि उस अक्षर, अव्यक्त, निर्गुण, अचिन्त्य और अलौकिक सत्ता के स्वामी परमात्मा के पहिचान के साधन हैं, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों की तपश्चर्या के प्रमाण हैं।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति के मूल आधार भगवान् वेद ही हैं। **"वेदो नारायणः साक्षात्"**। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारों ने चरित्र के माध्यम से इसकी प्रतिष्ठा की है। **"वेदोऽखिलोधर्ममूलम्"** के अनुसार अखिल धर्म के मूल वेद भगवान् तो हैं ही, किन्तु वर्तमानमें विश्व की अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं का प्रदर्शन हो रहा है। अनेक काल्पनिक मतों की भी स्थापना हो रही है, किन्तु आश्चर्य तो यह होता है कि सभी अपने को वेद से ही जोड़ने का प्रयास करते हैं। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदज्ञान अपूर्व ज्ञान है। वेदों के पूर्व संसार में कोई ग्रन्थ नहीं था, यह निर्विवाद है। इतिहासकार भी यही मानते हैं। अतः विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान के उपजीव्य यही हमारे वेद हैं, अतः यह भारत का गौरव है। मानव ने मानवता की प्राप्ति हेतु जब सर्वप्रथम नेत्रोन्मीलन किया तो परम कृपालु अपौरुषेय वेद भगवान् समक्ष प्रकट हुए। महर्षि कृष्णद्वैपायन ने पुराणादि के रूपमें इन वेद-मन्त्रों के विस्तार किये, अतः वे व्यास नाम से प्रसिद्ध हुए।

श्रुति के विरोध में यदि स्मृति वचन हों तो उसका त्याग कर ही देना चाहिए। यथा—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् । (पूर्वमीमांसा)

इस प्रकार वेद के ६: अंगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष्, व्याकरण) सहित जो वेदों की व्याख्या है, वही सिद्धान्त आस्तिक समाज में मान्य होता है, अन्य दुराग्रही मतों का आदर न कभी हुआ है और न होगा।

वेदों में बहुदेववाद ही अर्चातत्व है—देव शब्द दिवधातु से सिद्ध होता है जिसका अर्थ है क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति (इच्छा) और गति। अर्थात् "दीव्यति-प्रकाशते, क्रीडति, विजिगीषते-विजेतुमिच्छति, व्यवहरति, द्योतते, स्तूयते, मोदयति, स्वापयति प्रलये सर्वान् गच्छति गमयति वा अन्यान् स देव"। अथवा - **यस्यै हविर्दीयते सा देवता, यस्यै न दीयते सा न देवता । ऋचा यत् प्रतिपाद्यं यद यजुषा ईज्यम्,यत्साम्नागेयम् तद् दैवत्यम्**'(शतपथ०६।४।१५) इन सभी अर्थों में देव शब्द की सिद्धि होती है।

वेदों के अनुसार एक अर्थात् परमशक्ति पुंज से अनेक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है। नामरूपात्मक ब्रह्म के सगुणतत्त्व से जिन-२ विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ वे ही सृष्टि के अनेक देवों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। वस्तुतः एक ही प्रधान देव सभी प्राणियों में विद्यमान है—"**एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़**"

आदि उपनिषदों में वर्णित है किन्तु भक्तों के रुचिवैभिन्न्य के कारण अनुग्रहवशात् लीलाकैवल्य हेतु वह अनेक रूपों में स्थित हुआ । **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** के न्याय से मन्त्रभाग तथा ब्राह्मण दोनों के संयोग से वेदों की पूर्णता होती है । अतः ब्राह्मणके अनुसार वह एकही महादेव ३३ और ३३०० तथा ३३००० आदि देवों के रूप में परिणत हुआ । याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा— **स होवाच । महिमानऽएवेषामेते त्रयस्त्रिंशत्येव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति** । (शतपथ० १४ (५) ३।७।३अ०६ब्रा०) अर्थात् ८ वसु, ११रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र तथा १ प्रजापति, ये ३३ देवता हैं । इन्हीं ३३ संख्या की विभूति से ३३ कोटि देवता सनातन धर्म में गृहीत हैं । ये ही विभूतिरूप देवता यज्ञानुष्ठान आदि में एक ही वेदी पर सादर आहूत होकर विविध नाम रूप द्वारा अर्चित और चर्चित होते हैं ।

इन्हीं देवों का प्रतिपादन ऋग्वेद से और यजन पूजन यजुर्वेद से तथा स्तुति सामवेद से सम्पन्न होती है । **'लक्षः वेदाश्चत्वारः लक्षं भारतमेव च'** के अनुसार १ लक्षवैदिक मन्त्रों की संख्या कही जाती है । दुर्भाग्य से वर्तमान में लगभग ३०–३५ सहस्र मन्त्र उपलब्ध हो सकते हैं । (क्योंकि अनार्यों द्वारा यह देश सहस्रों वर्ष पराधीन रहा) अस्तु, जिसमें ८० सहस्र मन्त्र कर्मकाण्ड परक, १६ सहस्र मन्त्र उपासना परक तथा

४ सहस्र मन्त्र ज्ञानकाण्ड परक हैं-ऐसा वेद भाष्कार महर्षि सायण महीधर' आदि का कथन है किन्तु सभी आचार्य इस मन्तव्य में एक मत नहीं है। सबकी अपनी-अपनी दृष्टि है, अपना-अपना मन्तव्य है।

इस प्रकार अङ्गके के समन्वय से ही अङ्गीका सम्यक् दर्शन होता है। **शब्दानामनेकार्थत्वात्-** इसलिए वेद भगवान् कल्पवृक्ष के समान सबके पोषण कर्ता हैं। आधिभौतिक, आधिदैत्रिक और आध्यात्मिक रूप से मन्त्रों की व्याख्या होती है। **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्** (महाभारत) के अनुसार इतिहास, पुराण और स्मृतियों का आदर करते हुए वेदों की व्याख्या समादरणीय है। वेद ज्ञान हमारे व्यवहारिक जीवन के प्रकाशक हैं, अतः उन्हें मात्र अलौकिक कहकर सीमित नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ हम ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का ही अनुसन्धान करें। यथा- **'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।** (ऋ० १।१।१) इस मन्त्र में अग्नि की प्रथम स्तुति है।, क्योंकि वह यज्ञ की हवि देवों तक पहुँचाता है। अतः अग्नि यज्ञ अथवा देवों का पुरोहित है। अन्यत्र अग्नि तत्व को यज्ञ का दूत भी कहा गया- **अग्निं दूतं वृणीमहे** (१।१२।१) इस प्रकार अनुसन्धान करने पर अग्नि शब्द अनेकार्थ का वाचक है। ऋग्वेद में यह सुस्पष्ट है कि उपास्य देवों के सूक्ष्म और स्थूल दो भेद हैं। इसी प्रकार अग्नि देव के दृश्य और अदृश्य दो रूप हैं अर्थात् कारण अग्नि

और कार्य अग्नि । पंचतत्त्व के मध्य अग्नि का आधिभौतिक रूप है । अग्नि तेजस्तत्त्व का वाचक है । वही महानस (रसोई घर) में, वही जठराग्नि के रूपमें, प्रकाश रूपमें आदि अनेक रूपोंमें विद्यमान है । देवपुरोहित रूपमें आधिदैविक और परम प्रकाश तथा सूर्यमण्डल की प्रभा आदि के रूपमें विद्यमान अग्नि का आध्यात्मिक रूप है । इस प्रकार पृथिवी का अग्नि, अन्तरिक्ष का विद्युद्रूप अग्नि तथा द्युलोक का सूर्यरूप अग्नि-ये तीनों क्रमशः ऋग्०यजुः और सामवेद के प्रकाशक हैं । ऋग्वेद प्रथम अग्नि-स्तुति से प्रारम्भ होता है, यजुर्वेद विद्युत्रूप अग्नि को मुख्य आधार मानता है । सामवेद भी **"अग्न आयाहि वीतये"** से प्रारम्भ होता है । इसका अर्थ है-हे अग्निदेव ! तुम हमारी रक्षा हेतु आओ ।

पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम् रत्नधातमम्-ये अग्नि के पाँच विशेषण हैं ।

पुरोहितम्-"पुरः-अग्रे हितं (करोति) इति पुरोहितः तं"

अग्निदेवताओं का पुरोहित है, यह सीमित अर्थ का वाचक नहीं हैं । इसके अन्दर बहुत बड़ा विज्ञान छिपा है । अग्नि (तेजः) तत्त्व सम्पूर्ण लोकों का साक्षी है । जन्म से लेकर अन्तिमसंस्कार तक अग्नि की आवश्यकता रहती है । इस विषय में देश, जाति, सम्प्रदाय विशेष का कोई बन्धन नहीं है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश तत्त्वों के विषय में यह कोई नहीं कह सकता कि ये किसी देश विशेष के, जाति विशेष के लिए हो ।

प्रकृति सभी के लिए है। कृत्रिमवस्तु सबके लिए उपयोगी नहीं। इसीलिए मैंने कहा कि वेद भगवान् सभी के लिए हितकारी हैं। जिस प्रकार वेदोंमें अग्नि आदि देवताओं की अर्चा पूजा, स्तुति इत्यादि है, तो आस्तिकजन उसी क्रमसे उनकी पूजा-अर्चना करते हैं, किन्तु जो इन्हें देवता नहीं मानते, वे सत्ता तो अवश्य ही मानते होंगे, नहीं तो इन तत्वों से लाभ की आकांक्षा ही क्यों रखते ?

देखो ! हम देवताओं की पूजा करें, प्रार्थना करें, तब वे हमारे हितकारी हों, ऐसी बात नहीं है। ऐसी विषमता उनमें नहीं आ सकती। वे जीव के वशवर्ती नहीं हैं, वह स्वामी हैं, सर्वत्रगामी हैं। रागद्वेष से बँध जाना उनका कार्य नहीं है। यदि इस संसार के कुटिल प्राणियों के व्यवहार पर ध्यान देने लगें तो वे देवत्वसे हीन होकर मनुष्य भी नहीं रह जायेंगे। पृथिवी का क्षमागुण, जल का शीतलगुण, अग्नि का प्रकाशगुण, वायु का प्राणधारणगुण और आकाशका शब्दादिधारणगुण समान रूपसे पक्षपात निरपेक्ष है। वही अग्नि ब्राह्मण की यज्ञशालामें, देव पुरोहित रूपमें और वही हिन्दू, मुस्लिम आदि सभी के घर में विद्यमान है। आप उनकी पूजा करें, यह आपकी आस्तिकता है, न करें तो भी उसकी दाहकता और प्रकाश में कोई अन्तर नहीं। निराकारवादियों के यहाँ भी अग्नि आदि देवता साकार होकर प्रत्यक्ष लाभ देते रहतेहैं, कैसी निर्हेतुकी करुणा है, देवताओं की। यत्किञ्चिद्दार्ष्टि विषयकम् अग्नि कर्मैव तत् [निरुक्त अ०७]

इसके अनुसार जो कुछ भी दृष्टि में आवे, वह सब अग्नि कर्म है। अग्नि ही कर्म है, यही ज्ञान है, यही पुरुषार्थ है, यही वीर्य तत्त्व है और यही संसार की गति का आधार है। इतना ही नहीं, वेद भगवान् यहाँ तक कहते हैं—

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ।। (यजुर्वेद १२।३७)

अर्थात् हे अग्निदेव ! तुम औषधियोंके गर्भ हो, वनस्पतियों और सभी प्राणियों के गर्भमें हो। जल के गर्भमें तुम्हीं हो,आदि। **यज्ञस्य देवम्**—यज्ञ का अधिष्ठाता अथवा प्रकाशक। यज्ञ वैदिक विधान का प्रमुख अंग है। प्रजापति ब्रह्माने प्रजाओं के साथ यज्ञ को उत्पन्न किया और उन प्रजाओं को उपदेश दिया कि इसी यज्ञ द्वारा तुम्हें नित्य नवीन पदार्थों की प्राप्ति होती रहेगी। यह यज्ञ तुम लोगों के लिए कामधेनु के समान होगा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ।। (गीता ३।१०)

भगवान् श्रीकृष्ण ने मृत्युलोक और देवलोक के मनुष्य और देवताओं के परस्पर साम्य और उसकी प्रगाढ़ता हेतु यज्ञ की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है।

मनुष्य जब यज्ञादि द्वारा देवताओं इत्यादि को दानादि से पुष्ट करते हैं तो संतुष्ट हुए देव मृत्युलोकमें वृष्टि और सुभिक्ष द्वारा अन्न धन धान्यादि से सम्पन्न करते हैं। तथा यह अनिवार्य है कि उन देवों द्वारा जो भोग प्रदान किये जाते हैं, तो पञ्च-महायज्ञादि के रूप में उन्हें न देकर स्वार्थवशात् जो स्वयं भोग कर लेता है, वह चोर है। यज्ञ से अवशिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने वाला सभी दोषों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि यज्ञ का

प्रसाद अमृतान्न कहा गया है। देवताओं के उद्देश्य से जो अन्नादि सिद्ध नहीं करता वह पाप का भक्षण करता है। यथा-

देवान भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।
इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।
यज्ञशिष्टाशिनाः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

(गीता ३ । ११—१३)

वेद भगवान् भी यही कहते हैं-**केवलाधो भवति केवलादो, मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः** । (ऋ० सं०१०।११८।६) अर्थात् अकेला भोजन करने वाला मात्र पाप का स्वरूप होता है, यज्ञ न करने वाले व्यर्थ ही अन्न खाते हैं।

प्रश्न होता है कि यज्ञकर्म इतना अनिवार्य क्यों हैं, तो इसका उत्तर स्पष्ट है-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।। (गीता ३।१४)

वैदिक पद्धति से भली भाँति प्रदान की हुई अग्नि की यज्ञाहुति द्युलोकस्थ सूर्य किरणों से संक्रमण करती है। उन दोनों (यज्ञाहुति का सत्वांश और सूर्य की किरणें) के संयोग से मेघ की रचना होती है और उससे वर्षा होती है। वृष्टि से अन्न होता है, अन्न से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। तथा वैदिक कर्म से ही यज्ञ उत्पन्न होता है। यह वैदिक विज्ञान है। इसकी प्राप्ति अध्यात्म से ही सम्भव है। विश्व का कोई भी वैज्ञानिक आज तक इसका अनुसन्धान नहीं कर पाया। आज हम यज्ञकर्म से वंचित होते जा रहे हैं, केवल भौतिकी द्वारा हमें कैसे सुख शान्ति दर्शन दे सकती है। आज वह शान्ति

हमसे दूर हो गयी जो अपनी थी, आज हम मात्र जड़यन्त्र का आश्रय ग्रहण करते चले जा रहे हैं। यज्ञ के अधिष्ठाता देव भगवान् श्री विष्णु हैं **"यज्ञो वै विष्णुः"** (तैत्तिरीय सं० १।७।४) वेदों में कर्म ही प्रधान है । इसीलिए इसमें कर्मकाण्ड की प्रधानता बतलाई गयी है । यज्ञ ही विष्णु हैं अथवा यज्ञ विष्णु ही है। तो इसका अर्थ यही हुआ कि भगवान् श्री विष्णु एक कर्मयोगी हैं, वे कर्म से ही प्रसन्न होते हैं। उनके चरित्रों से ऐसा प्रमाणित होता है । "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति" । इसीलिए उन्हें यज्ञनारायण कहा जाता है। इसलिए यज्ञसे मात्र स्वर्गादि भोग ही नहीं, अपितु उस दिव्य लोक अक्षर तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसीलिए सनातन-धर्म (हिन्दूधर्म) के जन्म से मरणोपरान्त देह विसर्जन तक के सम्पूर्ण क्रिया कलाप यज्ञमय कहे गये हैं। भगवती गीता अनुग्रह करती है- कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद को अनादि अनन्त अव्यक्त मूल कारण परात्पर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो। वह नित्य और कण-२ में व्याप्त ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अतः उस परमपिता परमात्मा तक पहुँचने का साधन यज्ञ ही है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। गीता ३।१५)

यज्ञ शब्द यज धातु से निष्पन्न है । यज धातु का अर्थ है- देवपूजन, सङ्गतिकरण और दान । देवपूजन में मन्त्रों द्वारा देवावाहन,आसन, पूजन आदि कर्म सम्पादित होते हैं। सङ्गतिकरण अर्थ में इसकी परिभाषा है-'यज्यन्ते बन्धुबान्धवाश्चाहूयन्ते यस्मिन् कर्मणि स यज्ञः' । अर्थात् जिस कर्म में परस्पर बन्धुत्त्व का, वैचारिक समता का आवाहन और संगठन हो, वही यज्ञ है, यह विचार यज्ञ है, आज का हिन्दू और हिन्दुस्तान

इस कर्म से दूर हटना जा रहा है।

दान अर्थ में यज्ञकर्म– स्वस्त्वनिवृत्ति पूर्वक दान यज्ञ है। निःस्वार्थ देश काल पात्र में दान ही सात्विक यज्ञ कहा गया है। 'दरिद्रान् भर कौन्तेय' यह सूक्ति प्रसिद्ध हो है। नित्य पंच-महायज्ञ का वेदों शास्त्रों में प्रमुख वर्णन है। यथा—

अध्यापनं महायज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतोऽन्नयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।
पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ।।

(मनुस्मृति ३।७०।७१)

अर्थात् अशिक्षित को शिक्षित बनाना ब्रह्मयज्ञ है। तर्पण कर्म पितृयज्ञ है। देवताओं के उद्देश्य से होमकर्म दैव यज्ञ है। कुत्ता, चाण्डाल, चींटी, कौए आदि को खिलाना भूतयज्ञ है तथा अतिथि सत्कार नृयज्ञ (नरयज्ञ) है। ये पाँच महायज्ञ हैं। जो इन यज्ञों को यथा शक्ति नहीं त्यागता है, वह घर में ही नित्य निवास करता हुआ भी हिंसा आदि दोषों से लिप्त नहीं होता है। अर्थात् ओखली, चक्की, चूल्हा, झाड़ू, खेती, आदि से जो कीड़े मकोड़े की हिंसा स्वाभाविक हो जाया करती है, इन पंचयज्ञों वे दोष नहीं आते, उस यज्ञ के देवता अग्नि नारा-यण स्वरूप हैं **यज्ञस्यदेवम्** इत्यादि ।

इस प्रकार भले ही वर्तमान में हमारे समक्ष अर्चातत्व सम्बन्धी सम्पूर्ण श्रुतियाँ न भी विद्यमान हो पावे, तो भी, ऋषियों की सनातन परम्परा का अनुसरण करना हमारे लिए परम श्रेयस्कर है। ज्ञान अनन्त है, इसलिए "**महाजनो येन गतः स पन्था** (महाभारत) का ही सिद्धान्त मानना चाहिये। वेदानुरूप सभी ग्रन्थों को वेदानुकूल ही समझना चाहिये। प्रस्तुत "वेदों में अवतार रहस्य" का यही मन्तव्य है। इति श्रीसीतारामो विजयते

॥ श्रीरामोविजयतेतराम् ॥

-: मंगलाचरणम् :-

सीतानाथ समारम्भां रामानन्दार्य मध्यमाम् ।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु—परम्पराम् ॥

ॐ प्रतद्दु: शीमे पृथ्वाने वेने प्ररामेऽवोचमसुरे मघवत्सु ।
ये मुक्त्वाय पञ्चशता स्मयुः पथा विश्राव्येषाम् ॥१॥
(ऋग्वेद सं० १०।९३।१४)

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥२॥
(ऋग् सं० १०।३।३। साम० १५४८)

अन्यस्यावत्संरिहती मिमाऽयकयाभूवानि दधे धेनुरूधः ।
ऋतस्यसापयसा पिन्वतेलामहद्देवानाममसुत्वमेकम् ॥३॥
(ऋग् मं० ३ अ० ५ सू० ५५)

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्यमहद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥४॥
(ऋग् वे० अ० ३ व० ३१)

साकारं च निराकारं सगुणं निर्गुणं तथा ।
वन्दे परात्परं ब्रह्म श्रीरामं जानकीश्वरम् ।।५।।

सूक्ष्माचिच्चिद्विशिष्टं हि कारणं ब्रह्म कथ्यते ।
अन्यथा ब्रह्मणस्तस्माज्जगत् सृष्टिर्न सम्भवेत् ।।६।।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" ।
श्रुत्यविषयतैवं हि ब्रह्मणि प्रतिपादितम् ।।७।।

स्वयम्प्रकाश रत्नाढ्यो नाना भूषण—भूषितः ।
रम्यो विजयतां नित्यं श्रीमद्रामपरिच्छदः ।।८।।

न शान्तिर्न दान्तिर्न चेशानुरक्तिः न साम्यं न वैषम्यभावस्य हानिः
न सत्सङ्गतिर्नो दया सन्मतिश्च प्रभू राघवो मां हि पायादपायात् ।

न यागो न योगो न बुद्धिर्न शुद्धिर्न वेदान्त बोधो गतो नास्त्यबोधः।
न शक्तिर्न भक्तिर्नधर्मानुरक्तिः प्रभू राघवो मां हि पायादपायात् ।।१

रामतत्त्वार्थं सिद्ध्यर्थं स्वात्मबोधोपलब्धये ।
वेदेष्ववतारमीमांसा हर्याचार्येण भाष्यते ।।११।।

।। वेदों में अवतार रहस्य ।।

अवतार शब्द की निष्पत्ति—अव उपसर्ग पूर्वक 'तॄ'प्लवन तरणयोः" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ उतरना होता है। वह परमात्मा उतरता है। यद्यपि परमेश्वर स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है। मात्र स्वरूप के द्वारा वह पहचान में नहीं आता। वह सब में निलीन एवं निगूढ़ है। किन्तु जगत् जो हमें प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ता है वह उससे कभी भी भिन्न नहीं है। वही जगत् है और वही जगत् का नियन्ता भी है। अतः संसार में जो उसके रूप जगत् का नियमन करते हुए दृष्टि गोचर हो रहे हैं उनके द्वारा ही हम उस परमात्मा को पहचान सकते हैं। उनके द्वारा ही हमारी उपासना, शरणागति भक्ति प्रपत्ति सब कुछ सम्पन्न हो सकती है। दूसरे शब्दों में क्षर पुरुष में अव्यय पुरुष की जो कलाएँ परिलक्षित होती हैं वे अवतार हैं। अतः—

"अवतरति स्खलितान् जनान् तारयति इति अवतारः"।

त्रिषु कालेषु न व्यति इति अव्ययः

वही परमात्मा स्खलित लोगों को जो संसार सागर से पार लगा देता है वह अवतार है। अथवा तीनों काल में जो कभी भी व्यय अर्थात् क्षीण नहीं होता है वही अक्षर पुरुष ही अवतार है। वही उपास्य या ध्येय होता है। अतः अवतार का

वाचक शब्द आविर्भाव भी होता है और जगद् व्यापी विराट् रूप को ही भागवत में भी कहा गया है—**"एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्"** वह अव्यय **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'(बृहदारण्यकोपनिषद् ३०।६०।२८) सर्ववेदायत्पदमामनन्ति (कठोपनिषद् १०।२०।१५०) सत्य, ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्म है। सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का बार-बार सम्पादन करते हैं। विज्ञान स्वरूप ब्रह्म अनन्त है। **"अव्यय पुरुषैवाक्षररूपेण अवतरति"** अव्यय पुरुष ही क्षर रूप में अवतरित होता है। अतः उसे अवतार कहा जाता है। तीनों कालों में परमात्मा का स्वरूप सत्य है। वह सब का कारण है अतः कारण को सत्य कहते हैं। यह सत्य जगत् में सत्य रूप में प्रकट है। वह सत्य जगत में **नियति**, के रूप में प्रकट है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर एक नियमन कार्य करता है। जल सर्वथा निम्नगामी है। अग्नि की ज्वाला सदा ऊर्ध्वगामी है। वायु तिरछी ही चलती है। सूर्य नियत समय पर ही उदय होता है। हरिण के दोनों सींग बराबर नाप में बढ़ते हुए समान रूप से मुड़ते हैं। बेर के वृक्ष में प्रत्येक पर्व-ग्रन्थि पर दो काटें पैदा होते हैं जिनमें एक मुड़ता है, एक खड़ा रहता है। वसन्त ऋतु के आते ही आम के वृक्षों में मंजरी निकलने लगती है। इस प्रकार सभी जगत को अपने धर्मनियतरूप से स्थिर रखने वाली शक्ति, जिसमें चेतना भी अनुस्यूत है वही अन्तर्यामी वा सत्य शब्द से कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि

उस परम सत्य का नियत रूप से इस जगत् में अवतार है। इसी प्रकार सत्, चिद्, आनन्द परमात्मा के ये रूप शास्त्रों में वर्णित हैं। उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति तथा यज्ञ के रूप में अवतार कहा गया है। सत्ता और विधृति ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप हैं। प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है। एवं स्व-कार्य अपने आधार पर ही धारण करता है। जैसे मिट्टी घट का और तन्तु पट का रूप धारण करता है। ये सत्ता के विश्व-चर रूप हुए। ज्ञान का विश्व चररूप ज्योति है। इसके तीन भेद हैं—नाम, रूप, और कर्म। इनसे सभी पदार्थों को प्रकाश एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये ही सर्व पदार्थों के भेदक हैं। आनन्द का विश्वचर रूप यज्ञ है। आनन्द का अन्न ग्रहण करना ही यज्ञ कहलाता है। अतः अन्न नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्न ग्रहण से ही वस्तु का विकाश होता है और विकाश से आनन्द का रूप है। इन तीनों विश्वचर रूपों को भी **'प्रतिष्ठा वै सत्यम्' 'नाम रूपे सत्यम्'** श्रुतियों में सत्य शब्द से अभिहित किया गया है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥

सर्वज्ञ परम पुरुष को श्रुतिमें तीन विश्वचर की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वातीत रूपों से विश्वचर रूपों की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वातीत रूपों का विश्वचर रूप से अवतार ही उत्पत्ति कहा गया है। श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और

अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनों सत्यों का भी सत्य परमात्मा कहा गया है, अतः **'सत्यस्य सत्यम्'** कहा जाता है । **सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः** कहा गया है । इन्हीं को सगुण साकार के रूपमें वेदों में प्रतिपादन किया गया है । श्रुति भगवती सगुण के बिना मात्र निर्गुण का निरूपण कर ही नहीं सकती है । अतः श्रुतियाँ सगुण ब्रह्म का ही निरूपण करती है । सत् से पर असद् पर-ब्रह्म में श्रुतियों का प्रवेश नहीं हो सकता क्योंकि भक्तजन उनके पुत्र हैं । पुत्रों पर पिता की कृपा कैसे नहीं होगी । अतः ऋग्वेद कहते हैं—**"अमृतस्य पुत्राः"** (ऋग्वेद सं० १०।१६।१) अमृत अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डनायक परमात्मा है, उसके सभी पुत्र हैं। तब तो वह सगुण साकार है ही । उनका हम अर्चन-वन्दन, निवेदन, रुदन सब कुछ करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं। वह अन्तर्यामी अर्चारूप भी है । हम उसकी पूजा करके भी अपने जीवन को कृतार्थ कर सकते हैं ।

अतः स्पष्ट हो गया कि वेदों में सगुण साकार पर-मात्मा का वर्णन सर्वत्र प्राप्त होता है। सभी अवतारों का पूर्ण वर्णन वेदों में प्राप्त है जिसका दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया जा रहा है । अवतार की पूर्ण चर्चा वेदों में उपलब्ध है । सगुण वर्णन, अवतार वर्णन भी सर्वत्र प्राप्त होता है । अवतार की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं । **मुख्यतः १० अवतारों का वर्णन** आंशिक भेद से अनन्त अवतारों का वर्णन वेदोंमें उपलब्ध होते हैं । उदाहरणार्थ १० अवतारों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

इसका वर्णन मंत्र रामायण, मंत्र भागवत में भी प्राप्त होता है। मत्यस्यावतार—**मनवे हवै प्रातः मत्स्यः पाणी आपेदे सहास्मै वाचमुवाच विभृहि या पारयिष्यामि त्वेति कस्यान्मा पारयिष्यति इति औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढ़ास्ततस्त्वा पारयितास्मि।** (शतपथ० १।२।१।१)

एक समय मनु ने नदी के तट पर अवनेजन के लिए हाथ में जल उठाया तो एक मछली का बच्चा हाथ में आ गया। मनु ने विचार किया, तो उस मत्स्य ने कहा—आप मेरा पोषण करें, मैं आपको पार उतारूँगा। मनु ने आश्चर्य से पूछा— कहाँ पार उतारोगे। मत्स्य ने कहा प्रलयावस्था में जब सभी जीव जन्तु निमग्न हो जायेंगे तो पार उतारूँगा। इसके बाद मत्स्य का बढ़ना और महाप्रलय प्रारम्भ हुआ। इसका वर्णन पुराणों तथा **शतपथ** में पूर्णरूपेण किया गया है। दश कण्डिका तक इसका वर्णन मिलता है। कुरान और बाइबिल में वर्णित 'नुह की किस्ती' इसी के आधार पर लिखा गया है। 'नुह' शब्द मनु का अपभ्रन्श है। अतः अवतार पूर्ण वैदिक है। उसी प्रकार अन्य अवतारों का भी वर्णन वेदों में पूर्ण रूपेण प्राप्त हैं। कूर्म अवतार भी वैदिक ही है।

"अन्तरतः कूर्मभूत्—तमब्रवीत् मम वै त्वङ्मांसात्समभूत्, नेत्यब्रवीत्, पूर्वमेवाहवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्। [तैत्तिरीयारण्यक १।२३।३]

प्रजापति का शरीर रस से प्रकम्पित हुआ । उस जल में तैरते हुए कूर्म भगवान् का दर्शन हुआ । देखकर प्रजापति ने कहा—तू मेरी त्वचा से उत्पन्न हुआ है । कूर्म ने कहा नहीं, यहाँ मैं पहले से विद्यमान था । अतः मुझे पुरुष कहते हैं । **पुरः तिष्ठतीति** पहले से हूँ । तब कूर्म भगवान् सहस्रों शिर नेत्र, पाँव वाला विराट् रूप धारण करके स्थित हुए । यह भी अर्चा स्वरूप एवं सगुण साकार का ही वर्णन किया गया है । इसी प्रकार वेदों में विविध मन्त्र एवं स्थल हैं, जहाँ सगुण साकार परमात्मा का वर्णन किया गया है । वह परमात्मा स्वयं इस मन्त्र में अपने को पुरुष रूप में स्वीकार किया है, और सहस्रों शिर, नेत्र, पाद आदि का वर्णन मूल में किया है, जो विराट् परमात्मा की सिद्धि होती है । इसी प्रकार नृसिह भगवान् का वर्णन भी पूर्ण वैदिक है ।

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नरसिंहः प्रयोदयात् ।। (तैत्तिरीय० १।१।३१)

अर्थात् व्रजनख एवं तीक्ष्ण दाँत वाले भगवान् नरसिंह का हम ध्यान करते हैं, जो मेरी बुद्धि को, मन को सत्मार्ग की ओर ले जायँ ।

वामन—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्यपां सुरे स्वाहा । (ऋग्वेद १।२२।१७)

वामनावतार धारी सर्व व्यापक श्रीराम या विष्णु भगवान् इस जगत् को तीन पग में नाप लिए । या आक्रान्त

करके इन धूलि धूसर पद से भूमि आदि समस्त लोक में अन्तर-हित हो गये।

वामनो हि विष्णुरास— (शतपथ १।२।५।५)

भगवान् वामन विष्णु ही थे।

प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय। (ऐतरेय ७।५।३४।

भृगु वंशावतंस परशुरामजी ने विश्वान्तर के प्रति यह ज्ञान कहा। वेदों में भगवान् श्री रामचन्द्र का चरित्र बहुत विस्तार पूर्वक कहा गया है। उनका जन्म, निवास, पिता आदि तक का नाम वेदों में पूर्ण द्रष्टव्य है। जिनका चरित्र विश्व के लिए उपादेय एवं अनुकरणीय है, उनका वेदों में पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है।

अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या, तेषां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृता।

अर्थात्—आठ चक्र (वृत्याकार) नव दरवाजों वाली साक्षात् देव पुरी अयोध्या नगरी है। जिसमें सुवर्णपूरित कोश [खजाना] स्वर्गीय प्रकाश से सदैव प्रकाशित था। ऋग्वेद में श्री सरयू का भी वर्णन प्राप्त होता है।

सरयू सिन्धु रूर्मिभिमहोमहीरवसायन्तु वक्षणि।

(ऋग्वेद १०।५।६४।६)

याज्ञिक लोगों की प्रार्थना है कि श्री सरयू जी अपनी उत्ताल तरङ्गों द्वारा हमारी यज्ञ रक्षा के लिए उपस्थित हों। साथ ही महाराज दशरथ का वर्णन भी वेदों ने किया है।

चत्वारिंशत् दशरथस्य शोणाः । [ऋग्वेद २।१।११]

महाराज दशरथ के यहाँ लाल रङ्ग के विचित्र चाल में चलने वाले ४० अश्व थे ।

वेदों शक्ति स्वरूपा सीता की प्रार्थना करते हुए उनको प्रणाम करते हैं कि वह हमारे अनुकूल हों ।

शिवधनुर्भंग—अहं रुद्राय धनुरात नोमि ब्रह्म द्विषे शखे हन्तवा उ।

[ऋग्वेद १२५।६]

भगवान् श्रीराम स्वयं अनुग्रह करते हुए कहते हैं कि मैं स्वयं ब्रह्म से द्वेष करने वाले राक्षसों को विनाश करने के लिए रामावतार धारण करके महादेव के धनुष को ज्या (खरोदा) से युक्त करता हूँ ।

श्री सीताराम विवाह भी वेद में पूर्ण रूपेण दृश्य है । इस ऋग्वेद के मन्त्र में सगुण, साकार एवं अर्चा विग्रह का भी वर्णन प्राप्त होता है। और पाणिग्रहण का समर्थन तथा आदेश दिया गया है । अतः लोट् लकार प्रथम पुरुष का एक वचन प्रयोग किया गया । **यच्छ** धातु प्रदान अर्थ में है। यहाँ वेद भगवान् का आदेश है—

इन्द्रः सीतां विगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु । [ऋग्वेद ३।८।९]

श्री रामजी सीताजी को ग्रहण करें और महाराज श्री जनकजी प्रदान करें ।

इसी प्रकार **"श्री विश्वामित्र की यज्ञ रक्षा"** का भी वणन वेद में प्राप्त है। (ऋगवेद ३।३।२२) में **विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम्** श्री विश्वामित्र जी सुदास गोत्रोत्पन्न श्रीरामजी को अपनी यज्ञ रक्षा हेतु लिवा ले गये।

वनगमन— का वर्णन साम की ऋचा में प्राप्त है। (साम० उत्तरार्चिक १५।२।१।३) में वर्णन आया है कि मंगल स्वरूप श्रीरामजी तथा पुण्य श्लोका श्रीसीताजी वन में गये।

सीता हरण—जारोऽभ्येति पश्चात्[साम०उत्तरार्चिक १५।२।१।३]

रामजी के न रहने पर रावण जारबुद्धि से आया—और सीताजी का हरण कर ले गया।

श्रीसीताजी की अग्नि परीक्षा—भी सामऋचा ने गान किया है। आज बहुत से लोग जो बेचारे वेद का दर्शन तक नहीं किये हैं वे कहा करते हैं कि श्रीराम कथा एवं राम नाम तक वेदों में प्राप्त नहीं हैं। उन्हें विचार कर देखना चाहिए कि सभी वेदों ने श्रीरामचरित्र का पूर्ण वर्णन किया है। श्रीराम चरित्र वर्णन वेद ही नहीं करेगें तो करेगा कौन। उन महानुभावों के लिए मैं उदाहरण एवं हिन्दी अर्थ भी करते चल रहा हूँ।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि वितिष्ठन्नुषद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्।

[साम० उत्तरार्चिक १५।२।१३]

अत्यन्त विचित्र सुन्दर प्रतीकों से संयुक्त परम देदीप्यमान वर्णों से उपलक्षित द्यु लोक की साधनभूत राम पत्नी श्रीसीता सहित अग्नि देव श्रीरामचन्द्रजी के समक्ष उपस्थित हुए।

रामराज्य—अग्निः प्रियेषुधामसु कामोभूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति [यजु० १२।११७]

भगवान् श्री रामचन्द्र जी भूत एवं भविष्यत् कालवर्ती राजाओं में अद्वितीय सम्राट् हुए जो अपनी प्रिय प्रजा की समस्त कामनाओं को पूरा करते थे। यह मुक्ति भी प्रदान करते थे। जिनकी कामना होती थी प्रजा इनकी आराधना भी करती थीं। मुक्ति हेतु भक्ति, प्रपत्ति हेतु वे सभी कामनायें पूर्ण होती थी।

वेदों में प्रतिमा पूजन का पूर्ण विधान विद्यमान है। आज बहुत से लोग कह दिया करते हैं कि वेदों प्रतिमा पूजन का विधान ही नहीं है।

मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि। [तैत्ति० प्रपा० ४ अनु ५]

हे महावीर तुम ईश्वर की प्रतिमा हो।

सहस्रस्य प्रतिमा असि। [यजु० १५।६५]

हे प्रभु आप सहस्रों की प्रतिमा (मूर्ति) हो।

अर्चत प्रार्चत प्रिय मेधा सो अर्चत। [ऋग्वेद ६।५।५८।८]

इस प्रकार वेदों में ब्रह्म के स्वरूप को सगुण साकार के रूप में वर्णन किया गया है।

श्रीरामः सच्चिदानन्दो योगिनां रमणास्पदम्।
जगत्सृष्टयादि हेतुश्च तस्माद् ब्रह्म पदेरितः ।।२।।

[मन्त्र रामायणम्]

योगियों के मन में रमण करने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीराम ब्रह्म पद वाच्य स्वीकार किये गये हैं। यहाँ भी भगवान्

के अर्चा विग्रह की चर्चा पूर्णरूपेण किया गया है । इन सभी उदाहरणों से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सगुण के बिना किसी भी परिस्थिति में निर्गुण को बिना वाणी के व्यक्त नहीं किया जा सकता है । अतः अक्षर रूप भी सगुण-साकार का ही स्वरूप है और रामावतार का तो वेद में पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के विविध मन्त्रोंमें रामावतार की चर्चा की गयी है । कहीं सत्य स्वरूप परमात्मा, कहीं ऋत रूपसे कहीं साक्षात् श्रीराम स्वरूप की चर्चा विद्यमान है । प्रस्तुत मंत्र में ऋत कह कर रामजी की अर्चा रूप में प्रार्थना की गयी है ।

ऋतस्य तन्तु विततः पवित्रआ जिह्वाया वरुणस्यमायया ।
धीराश्चित तत सम्निनक्षन्त आशता त्राकर्तमवपदात्य प्रभु ।।

[ऋग्वेद ६।७३।६१]

इस मन्त्र के आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने रामजी को **"प्रभोः प्रभुः"** प्रभुओं के प्रभु कहा है। उनका चरित्र इतना पवित्र एवं उत्कृष्ट है कि जीवन में उसको धारण कर लिया जाय, पूजन कर लिया जाय, वन्दन कर लिया जाय, तो समग्र पाप भस्म हो जाते हैं ।

अतः वरूण पुत्र प्राचेस [भार्गव] महर्षि वाल्मीकि ने तप पूर्वक उस श्रीरामचरित्र को अपनी जिह्वा पर धारण किया। हमारे अन्तःकरण को परम पवित्र करने वाला रामजी का

आदि आकाश स्थानीय देवता हैं। इसमें सभी देवताओं का सहज स्वाभाव है। विश्व को प्रकाश और व्याप्त करने वाला तत्व व्यापन शील या रमणशील श्रीरामजी का स्वरूप है जो कर्म की ओर प्रेरित करने वाला है। ऋषियों ने इसी रूप में इनका दर्शन किया है। नहीं तो उस कालमें अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार इतना अधिक बढ़ गया था जिसका अवरोध संसार में कोई कर ही नही सकता था। उस समय श्रीराम ने अवतरित होकर विश्व को अपने कर्म के द्वारा ही चमत्कृत किया।

अतः श्रुति भगवती अनुग्रह करती है। **'एकं सद् विप्रः बहुधा वदन्ति"** उसी प्रकाश स्वरूप परमात्मा का विविध रूप देव रुप में वर्णन किया गया है। ऋषियों ने अलग-२ देवताओं की स्तुति करते हुए सबमें एक सत्ता का दर्शन किया है, जिसके अनेक नाम हैं। अनेक रुप हैं। इसी के द्वारा उपासना की विविधता में एकता का दर्शन किया है। आत्म विद्या के देवता उपदेष्टा देवता हैं। उसमें राम, कृष्ण आदि की उपासना के साथ रस रुपिणी भक्ति की अधिष्ठात्री के रुप में आती है। सावितृ संस्कार सम्पन्न अवतार मात्र श्रीराम का ही है। अतः वैदिक भाषा में जहाँ इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ परमात्मा ही है।

इन्दं मित्रं वरूणमग्नि माहुः । [ऋग्वेद १।१६४।४६]

इस मन्त्र में इन्द्र का अर्थ **"इन्द्रः परमात्मा"** कहा है। अथर्ववेद के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—इन्द्र परमैश्वर्य

युक्तो देवानामधि पतिर्देव: यद्वा इदंकारास्पेदं विश्वं कारणभूतं अद्राक्षीदिति इन्द्रः । ऐतरेय में **"एषब्रह्मैव इन्द्रः"** और शतपथ ब्रह्मण में **"इन्द्रो यज्ञस्यात्मा"** कहा गया है । मर्त्य स्वर्ग के अस्थिर दास को मानना और प्रजाओं को समुचित रुपसे धर्म की शिक्षा देना श्रीरामभद्रजी का ही कार्य रहा है, अन्य अवतार का नहीं। उपनिषद् भाग की श्रुति भी यही प्रतिपादन करती है।

धर्म मार्ग चरित्रेण ज्ञानमार्ग च नामतः ।
तथाध्यानेन वैराग्यं ऐश्वर्यं स्वस्य पूजनात ।।

[ए० ता० उ०]

"इदि परमैश्वर्ये धातु से भी इन्द्र शब्द बनता है। उणादि में कर्त्तीरिरन् प्रत्यय करने से इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति विश्वकोषे अतः इन्द्र शब्द परमात्मा परक होनेसे श्रीराम परक ही है। अन्य परक नहीं। **"इरां अन्नं ददाति इति इन्द्रः"** अथवा इद पूर्बक दाना नार्थक डुदाञ् धातु से इन्द्र शब्द बनता है। **राति अन्नादि सर्वं वस्तु जातं ददाति रामः** दान्नर्थक रा धातु से राम शब्द सिद्ध होने से दोनों पर्यायवाची हैं।

एष प्रन्येन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः हरिः पवित्रे अर्पति ।

[ऋग्वेद ६।३।६ साम उत्त० २।५।४]

यह दिव्य तेजोमय श्रीरामजी इससे पहले अवतार सर्बदेव जनक प्रजापति कश्यप के पुत्र वामन उपेन्द्र थे वर्तमानकाल में वही परम तेजस्वी श्रीराम वैवस्वत मनु के २४ वे त्रेता में परम पावन निर्दोष कुलोत्पन्न रघुबंश में अवतार ग्रहण कर उस

कुल को कृतार्थ कर रहे हैं। यह अवतारचर्चा वेदों में विद्यमान है। यही अर्चा विग्रह की पूजा हमारे श्रीवैष्णव रामानन्द-सम्प्रदाय में पूर्णरूपेण विद्यमान है, जो आज समग्र प्राणिमात्र को कृतार्थ कर रहा है। राज्याभिषेक के समय श्रीवशिष्ठजी ने श्रीराम को व्रत उपवास के बारे में उपदेश दिया। अवतार-काल का ज्ञान रहने पर भी वशिष्ठजी स्वयं रामजी को विद्या अध्ययन भी करवाते हैं। युवराज का क्या कर्तव्य है? क्या करणीय है और क्या अकरणीय है? यह सब कुछ समझाते हैं।

सम्वत्सरं न—नास्य राम ! उच्छिष्टं विवेततेज एव तत्संश्यति ।।

वत्स राम तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ रहना चाहिए। कहीं कोई उच्छिष्ट भोजन या लंघन किया हुआ जल आदि पीने से भी बचना चाहिए।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार एकही समयमें एक ही आत्मा आवश्यकता अनुसार विविध शरीर धारण कर सकता है। उपर्युक्त श्रुति भी यही कहती है—**स एकधा भवति,त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशस्मृतः शतञ्च दशचैकञ्च सहस्राणि च विंशतिः।** [छा० ७।२६।२]

यं यं भावं स मुक्तात्मा परधाम्नि वाञ्छति

तदानीमेव स भावस्तमाप्नोति हि सर्वथा।।

उस परब्रह्म का स्वरूप स्वयं निरवधिक एवं ज्योतिर्मय है। नित्यजीव, मुक्तजीव और ईश्वर भी उसका परिच्छेद नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह स्वयमेव प्रकाश स्वरूप है। उस

परमात्मा को यथार्थ रूपमें परब्रह्म स्वरूप का बोध श्रीआञ्जनेय आदि ही करने में सक्षम हैं। श्रुति में जो **"यं यं भावम्"** दिया गया है तथा **"स मुक्तात्मा"** और **"परधामनि वाञ्छति"** दिया गया है, वह बड़ा ही सहेतुक एवं रहस्य की बात है। हमारा भाव जिस प्रकार का बनेगा उसी के अनुसार परमात्मा की कृपा, उसका तेजोमय रूप, तथा हमारी रक्षा आदि के सभी भाव स्वयं समक्ष आ जाते हैं। हमारी दृष्टि किस प्रकार की बनती है। बहुत लोग तो यही कहते हैं कि कर्म ही ईश्वर है, तो उनको कर्म के द्वारा जीवन में परम आनन्द की प्राप्ति होती है। कोई कहते हैं कि ज्ञान द्वारा ही वह दृश्य है। उनको ज्ञान में ईश्वरीय सत्ता का पूर्ण दर्शन होता है। कुछ लोगों का विचार है कि बिना जीवन में दैन्य आये, भक्ति प्रपत्ति समर्पण आये कुछ भी नहीं हो सकता, उनको उसी के द्वारा ही सब कुछ प्राप्त होता है। कितने लोग कहते हैं—ईश्वर अपना कर्तव्य कभी भी नहीं भूलता है कोई बुलाये या न बुलाये, उसे क्या करना है, वह उसी के अनुसार करता ही है। इन सभी बातों में अपना एक स्वतन्त्र विचार है तथा जीवन में जीव को सन्तोष भी प्राप्त होता ही है। अतः हमारे वेद भगवान् की जीवों पर अहेतुकीया कृपा है। वह सभी प्रकार के भावों को अपने में सँजोये हुए हैं। वहाँ अपनी रुचि के अनुसार जो चाहे साधक अपने लिए छाँट ले उसको तोष अवश्य ही मिलेगा, अतः मूलमें कहा गया है कि—**"तदानीमेव स भावस्तमाप्नोति हि सर्वथा"**

उस अर्चा बिग्रह का जितना विशिष्ट ज्ञान श्री हनुमान जी को है उतना किसी में नहीं है । नाम, रूप, लीला, धाम चारों में से जिस किसी में आप की अविरल निष्ठा है वह उसी रूप में आप को अवश्य प्राप्त होगा । नाम में हो जाय, तो बुलाने से भी वह अवश्य आ जायेगा। जैसे द्रोपदी, विभीषण, ध्रुव, प्रहलाद, हरिश्चन्द्र, गजेन्द्र आदि के ऊपर उसकी कृपा ही कही जायेगी । ऋषियों, मुनियों, महापुरुषों ने उसका जैसा अनुभव किया उसी प्रकार का रस उसको अनुभूत हुआ है । अतः श्रुति भगवती उसी की पुष्टि करती है। वह शुद्ध सत्व परिच्छेद्य है, इस प्रकार का ज्ञान हो जाना तो सर्वज्ञता है । उसको जो जान लिया उसके लिए संसार में कुछ भी जानना अवशिष्ट नहीं रह जाता और कुछ अन्य जानने की इच्छा भी नहीं रह जाती । इयत्ता शून्य वस्तु की इयत्ता न जानने से सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, प्रत्युत् वह एक विशेष गुण रूप हो जाता है। अतः नित्य शुद्ध सत्त्व का परिच्छेदन न करने के कारण "**ईश्वर सर्वज्ञ**" है इसमें कोई दोष नहीं आता है ।

'क्षयं तमस्य रजसः पराके', 'तमसः परस्तात्', 'पञ्च शक्तिमये दिव्ये शुद्धसत्वे सुखाकरे' 'नित्यमनादि निधनम्', 'तदक्षरे परमे व्योमन्' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', यत्र देवानामधिदेव आस्ते, 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" 'विष्णोः पदं निर्भयम्" ।

इन सभी श्रुतियों की अर्धालियों में उसीका चित्रण एवं पद पूजन,अर्चन का संविधान किया गया है, पर साधक उसी के प्रति आकांक्षित हो तभी उसका सगुण आनन्द प्राप्त करें। उसके ऊपर तो बहुत दिनों का मैल पड़ा हुआ है जो जल्दी हटता ही नहीं। संसार के विषयों से हटकर जब उधर देखें तो वह जैसा चाहेगा उसी प्रकार वह ईश्वर बनता है, उसका आकार बनता है। भावानुरूप वह परिणत होता है। उसमें तनिक भी विलम्ब नहीं होता।

यदि कोई यह कह दे कि शुद्ध सत्व स्वयं प्रकाश है तो आत्मा तथा ज्ञान में क्या अन्तर पड़ता है? तो यहाँ विचारणीय है कि मात्र आत्मा को यह प्रतीति होती हैं। 'मैं हूँ' यह अहं की प्रतीति है। यह है, यह प्रतीति **इदंत्वेन** होती है। दूसरी बात है कि आत्मा और ज्ञान शरीर धारण नहीं कर सकता है परन्तु शुद्ध सत्व सब कुछ बन सकता है। तीसरा कारण यह है कि शब्द आदि के स्पर्श का आश्रय ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है। उनका ग्राहक है परन्तु शुद्ध सत्व उनका आश्रय भी है और ग्राहक भी है। आश्रयत्व में पोषण गुण का वैशिष्ट्य है और ज्ञान आदि आत्मा में ऐसा कुछ भी नहीं है। इसमें भी कुछ लोगों की अपनी मान्यता भिन्न है। वे यह मानते है कि निरतिशय भगवत् प्रकाश के नित्य अविच्छिन्न सम्बन्ध के कारण शुद्ध सत्व को स्वयं प्रकाश मानते है। उसी प्रकार आनन्दमयत्वादि गुण भी परब्रह्म के अबाध संयोग से ही है, ऐसा मानते हैं।

ऋग्वेदीय आक्षिकी उपनिषद् अ० १ मं० १ में ब्रह्मपद-वाच्य श्रीराम को ही सगुण साकार और विकलेवर रूप में स्वीकार किया गया है। उनका प्राकृत देह नहीं है, सच्चिदानन्द-मय जिनका दिव्य कलेवर है, जो ज्ञान की सप्त भूमिका अर्थात् सप्त सोपान के द्वारा ही विज्ञेय है। जो कैवल्य मोक्ष स्वरूप है। उन रामजी के श्रीचरणों का भजन पूजन, अर्चन-वन्दन करता हूँ।

यत्सप्तभूमिका विद्या वेद्यानन्दकलेवरम् ।
विकलेवर कैवल्यं रामचन्द्रपदं भजे ।।

[ऋग्० आ० उ० अ १ म० १]

यहाँ अर्चावतार का ही वर्णन किया गया है। भजन उसी का हो सकता है जो सगुण साकार सावयव है, निरवयव का नहीं। श्रीरामचन्द्र 'वेदवेद्य परे' होने पर भी भजनीय हैं। उनकी अर्चना होती है। ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन करके ही राममन्त्र का बीज वेद में है, जो आज भी श्रीसम्प्रदाय (श्री-रामानन्द सम्प्रदाय) में सप्रेम अनुष्ठान तथा यज्ञ आदि कार्यमें सम्पादित होते हैं। इस जगत् का कारण परम पिता परमात्मा है। हमारी दृष्टि का भी प्रभाव हमारे ऊपर अवश्य पड़ता है। वह एक होते हुए भी अनेक है।

यो देवानां नामधा एक एव । (शुक्ल यजु० १७।२७)

वह देवताओं में अद्वितीय है। वही भजनीय तत्व है। उसी के द्वारा ही हमें जीवन में शान्ति प्राप्त हो सकती है। वेदोंमें

अवश्यमेव विद्यमान है । उसका कोई प्रतिमान (जोड़ी दार) नहीं है । वह सभी का नियन्ता है । जगदाधार है ।

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम ।

(ऋग्वेद १।२४।१)

अमरत्व को धारण करने वाले देवताओं में किसका नाम जपनीय है? इसके उत्तर में वेद भगवान् अनुग्रह करते हैं कि वही परात्पर ब्रह्म परमात्मा का ही नाम भजनीय है, जिसका कीर्तन, यज्ञ आदि अनुष्ठानों में किया जाता है । वही नाम अनुष्ठेय है ।

अग्ने वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम ।

(ऋग्वेद १।२४।२)

ब्रह्म का नाम ही कीर्त्तनीय है । ऋग्वेद के मन्त्रों में सगुण की चर्चा अवश्य है । इस प्रकार सगुणतत्व, साकार-तत्व, योगतत्व, कीर्तनतत्व, भजनतत्व सभी वेद में दर्शनीय हैं।

अतः वह ब्रह्मतत्व सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अनेक नामों को धारण करता है। वह कहीं देवोचित, कही मानवो-चित, कहीं नामोचित स्वरूप अर्चनीय, वन्दनीय तथा अनुष्ठेय है। अतः स्पष्ट है कि वह सत्य सनातन, सत्य स्वरूप, अक्षर-स्वरूप, धर्म स्वरूप, आत्म स्वरूप, परमात्मा अर्चा रूपमें साधक भक्तों के मनोरथ सदैव अपनी अनुग्रह द्वारा पूर्ण करता है । यह मरणधर्मा प्राणी मात्र उस ज्योति स्वरूप परमात्मा को नाम रूप में ही ग्रहण कर तुष्ट एवं पुष्ट होता है ।

मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनाम्महे ।

(ऋग्वेद ८।११।५)

इस प्रकार नाम महत्व भी वेदों में विद्यमान है—यह पूर्ण सिद्ध हो गया। ऋग्वेद में श्री रामचन्द्र जी की स्तुति देवताओं ने किया है। हे सदैव अमर स्वरूप प्रभो! हम देवों द्वारा आप सदैव स्तुत्य हैं। सदा पूजनीय हैं। हे संसाररूपी प्रजा पालक! आप के स्वरूप का ज्ञान सामान्य लोगों को कदापि नहीं होता है। अतः आप को जो लोग समझते हैं वे प्रार्थना करते हैं तथा आपके स्वरूप विग्रह के बारे में जिनकी जानकारी नहीं है वे लोग आप की निन्दा ही करते हैं। आप ही परमेश्वर हैं। आप देवों, मानवों एवं जलचर-थलचरों के भी स्वामी हैं। वेद आपकी स्तुति करते हैं। यहाँ अर्चावतार का ही दर्शन पूर्णरूपेण झलका दिया है। अतः हम लोग आप की विग्रह या मूर्ति का स्तवन वन्दन सदैव किया करते हैं।

"ते वन्दारुः ते तन्वम् आ वन्दे"

(ऋग्वेद १।१७४।२, शु०य० १२।४२, तै० सं० ४।२।३।४)

यहाँ स्पष्ट रूप से उस परात्पर को श्रीराम के रूपमें वन्दना एवं शरणागति प्राप्त कियाहै। इसी का अनुवाद गोस्वामिपाद ने अपने श्रीरामचरित्र मानस में किया है।

ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुण यश हम गावहीं।

(रामचरित्र मानस ३८८)

भगवान् के सगुण रूप का स्तवन करके श्रीवैष्णवाचार्यों पर अविरल कृपा किया है और स्पष्ट है कि श्री सम्प्रदाय का वर्चस्व उस वैदिक कालमें पूर्ण विद्यमान रहा। वैदिक परम्परा हमारी विद्यमान रही है।

-: हमारा दार्शनिक स्वरूप :-

वह वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता, भर्ता तथा हर्त्ता है। श्रुतियों में जहाँ ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है वहाँ निर्गुण का अर्थ है— **"निर्गच्छन्ति गुणाः यस्मात्"** अनन्त गुण जिससे निकलते रहते हैं। अथवा हेयगुण रहित होने से ऐसा कहा गया है। ब्रह्म का स्वरूप पाँच रूपों से प्रकट होता है। अर्चा, विभव, व्यूह, अन्तर्यामी एवं परब्रह्म (साकेतस्थ रामजी) साकेत में रामजी अपने परिकरों सहित सीताजी से सेवित हैं। सीता पुरुषकार स्वरूपा हैं। क्रिया और भूति (विकास) दो रूप उनका भी है। ब्रह्मावतार उनका दो भेद है—आवेश एवं प्रवेश।

ब्रह्म, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, एवं तेज आदि षड्गुण सम्पन्न है। स्वरूप में भेद है। भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति एवं प्रेरक ब्रह्म रामजी हैं। प्रकार-प्रकारि सम्बन्ध से वे एक हैं। षाड् ऐश्वर्य सम्पन्न रामजी वेद प्रतिपाद्य हैं।

सर्वज्ञः सर्व—शक्तिश्च सर्वेशः सर्वकारणम्।
रामः सर्वावतारो हि कौशल्यानन्दनोऽभवत्॥

(चरम मंत्र रामायणे)

सर्वज्ञ और सर्व शक्ति सम्पन्न रामजी का प्रतिपादन वेद भी करते ही हैं। सर्व शक्ति स्वरूपा भगवती श्रीसीता साथ ही विराजमान हैं। वह अपनी शक्ति आह्लादिनी स्वरूपा के साथ अवतरित होते हैं। ऋग्वेद सर्वेश्वरी के रूप में सीताजी का आह्वान करता है।

अर्वाची सुभगे! भव सीते ! वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाऽससि यथा नः सुफलाऽससि ।।

(ऋग्वेद ४।५७।६)

सर्वेश्वरी यथा चाहं रामः सर्वेश्वरस्तथा ।
षड् गुणो भगवान् रामः षड् गुणाऽहं स्वभावतः ।।

मन्त्र का तात्पर्य होता है कि उसका हृदय में पूर्ण रूप से मनन हो, तभी मन्त्र सिद्ध कहा जाता है। ऋषियोंने वेद-मन्त्रों का दर्शन बड़े ही तपः पूत हृदय से किया है। उसमें सर्वेश्वर रामजी का प्रत्यक्ष दर्शन करके ही मन्त्रों के तात्पर्य आ सके हैं। उस परब्रह्म परमात्मा के चरित्र का साक्षात्कार करने के पश्चात् राममन्त्र षडक्षर रूप में अनुबद्ध हुआ है। अतः वेद मन्त्र में जो "राँ" पद आया है वह समग्र सृष्टि का हेतु है। क्योंकि उसमें "आ" स्वर रूप में अवतरित हुआ है। उसी की उपासना श्रुति ने किया है।

"उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः" (मु० उ० ३।२।६१)

शान्ति के लिए, आनन्द के लिए, भक्ति के लिए श्रुति भगवती अनुग्रह करती है।

"शान्त उपासीत" (छां० ३।१४।१)

"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

(छाँ० ७।२६।२)

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मु०उ० २।४)

वह परमात्मा बल हीन के द्वारा नहीं प्राप्य है।

"एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"

(मु० उ० ३।२।४)

"शान्तो दान्तः" (वृ० ४।४।३)

ये सभी श्रुतियाँ भगवद्धाम के लिए सगुण साकार का ही निर्देश करती हैं। अकार ही भगवद् रूप है और रकार अग्नितत्व है। मकार जीव तत्व है। श्रीराम ही कारण ब्रह्म हैं और ध्येय भी यही हैं। राम को शब्दतः और अर्थतः भगवती श्रुति ने जाना। राम तथा ॐ में कोई अन्तर भी नहीं है। राम और ॐ पदमें एकता है। जितना प्राण वायु 'ॐ' के उच्चारण में लगता है उतना ही प्राण वायु "राँ" बीज के उच्चारण में लगता है। अकार का प्रयत्न उदात्त अनुदात्त स्वरित है और ॐ का भी (अ उ म्) प्रयत्न उदात्त अनुदात्त स्वरित है। दोनों का स्थान मूर्धा है। स्थान प्रयत्न का भी साम्य होने से भी एकता है। श्रुति स्वरूप श्री जानकीजानि ने सर्व प्रथम 'रां' बीज को समग्र सृष्टि के आश्रय के रूप में दर्शन किया तथा विचार किया कि इस 'रां' बीज को ऊर्ध्व रेता महात्मा ही धारण करने में सक्षम हो सकता है, अतः प्रथम श्रीहनुमान

जी को इसे दिया । ऋग्वेद में यह मन्त्र दृश्य है । 'रां रामाय-नमः' यह पदत्रय समग्र सृष्टि का आधार है ।

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन् ।
(ऋग्वेद १०।१११।७)

सृष्टि के आधार का मंगलाचरण करती हुई श्रुति ने यही दर्शन किया । 'विन्द' का अर्थ मूहूर्त्त भी होता है । अनुष्ठानात्मक मन्त्र का प्रारम्भ सुमुहूर्त्त में ही किया जाता है। अतः सर्व नियन्ता सर्वेश्वर जगदाधार श्रीराम के स्वरूप का अर्थात् ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म का दर्शन **"रां रामाय नमः"** में किया । उपर्युक्त मूहूर्त्त समस्त संसार का मंगल करेगा,और समग्र मरण-धर्मा प्राणियों का कल्याण करेगा, अतः वेद भगवान् बीज रूप में राममन्त्र को लोकहितार्थ लेकर प्रकट हुए, जिसकी व्याख्या पुराणों ने, वाल्मीकि जी ने, ऋषियों ने सर्वत्र बड़े ही समारोह के साथ किया है और श्रीरामरूप को सगुण साकार विग्रह अर्चा रूप सभी जन-जन के लिए सुलभ कर दिया है । वेद अपौरुषेय हैं। इनका ज्ञान और अर्थ बिना तप के कदापि नहीं हो सकता । आज बहुत से लोग कह देते हैं कि राम शब्द ही वेदोंमें नहीं है । भक्ति की चर्चा वेदों में कहीं नहीं है । वे लोग इस तथ्य को नहीं जानते । यह विषय अत्यन्त कठिन है। इसके लिए त्याग उपासना की आवश्यकता है । अल्पश्रुत से वेद भगवान् डरते हैं कि वह पता नहीं किस प्रकार का अर्थ कर देगा । श्रीराम अतर्क्य हैं तथा मन, बुद्धि, वाणी से भी परे हैं । यह

सत्य है। पर कार्य स्वरूप उनका सर्वथा सेव्य, उपास्य और अर्च्य है। अनादि काल से ही यह परम्परा चली आ रही है।

साधक भक्तों के नेत्रों का विषय वह बनते हैं, यही उनकी निर्हेतुकी कृपा है। वेदोंमें जितने मन्त्र हैं वे सभी स्तुति-परक हैं। उनका परम तात्पर्य है भगवत् कृपा का सम्वल प्राप्त करना, तभी यागादि क्रियायें भी उनकी सफल होती हैं। अतः ज्ञान काण्ड, कर्मकाण्ड और भक्ति ये तीनों वेदों में प्राप्त हैं। अपने सामर्थ्य एवं शक्ति के अनुसार उस परमात्मा की उपासना अनादिकाल से होती चली आ रही है और चलती रहेगी।

वेद हमारे सनातन धर्म के कल्प वृक्ष हैं। इनके आश्रय में रहकर अभीष्ट सदैव पूर्ण होते रहे हैं। वेद शब्द संसार के सभी धर्म एवं धर्मियों में प्रसिद्ध हैं। वेद उन धर्म ग्रन्थों का सामूहिक नाम हैं,जिनको ब्रह्म से अथवा ब्रह्मा के मुख से उपदिष्ट माना गया है। हिन्दुओं के सभी ग्रन्थ पुराण, महाभारत,वाल्मीकि-रामायण, दर्शन एवम् उपनिषद् सभी ने एक स्वर से वेदों को अनादि और अनन्त माना है। अनादि इसलिए कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। ईश्वरीय ज्ञान का आरम्भ नहीं होता। जब से ईश्वर है तब से वेद हैं। ईश्वर अनादि है अतः वेद भी अनादि है। ईश्वर अनन्त है अतः वेद भी अनन्त हैं। "**अनन्ता वै वेदाः**" यह प्रसिद्धि है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्मजनाः विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः ॥
(अथर्व० १०।७।१०)

सकती है। नाम, रूप, लीला, धाम, आदि के रूप में जो वर्णन किया गया वह होना असम्भव था। तैत्तिरीय श्रुति अनुग्रह करती है कि उस परमात्मा ब्रह्म ने कामना की, हम बहुत होंगे या उत्पन्न होंगें। कामना तो मात्र सगुण में ही हो सकती है, निर्गुण में नहीं। अतः श्रुति वचन से तो पूर्ण परात्पर ब्रह्म स्वयं अपनी कृपा द्वारा ही अपना प्राकट्य करता है और समग्र संसार के जीवों का उद्धार करता है।

सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु-प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । (तै० २।६।१)

"**तदात्मानं स्वयमकुरुत्**" (तै० २।७)

उसने कामना और तपस्या की। तपस्या करके जो कुछ चराचर जगत में है, सब की सृष्टि की। सृष्टि करके उन सब में प्रविष्ट हुए। प्रवेश करके सत् (मूर्त्त) त्यत् (अमूर्त) हुए। उन्होंने स्वयं अपने को ही इस प्रकार व्यक्त किया। **तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो, मनः सत्यं लोकः कर्मसु चामृतम्** ।

य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणि ।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ।। (ऋग्वेद ६।४५।१६)

एक वही परमात्मा मात्र स्तुत्य है। जो समस्त प्रजाओं का द्रष्टा है और जो समस्त कर्मों का फल देने वाला है। और सबका स्वामी है। इस मन्त्र में भगवान उसी ब्रह्म का

ही निर्देश किया गया है। यदि वह सगुण नहीं तो श्रुति उसका निर्वचन कैसे करती है। अतः यहाँ उन ब्रह्म पद वाच्य राम जी का ही अर्चा विग्रह के रूप में वर्णन किया गया है। उसी को प्रार्थनीय तत्व के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् । (ऋग्वेद १।१६४।३९)

उस अविनाशी ब्रह्म में समस्त जगत् और जगत के जीव विकास करते हैं। अतः वही अर्चनीय है।

तव क्रत्वा सनेयं तवरातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः ।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्यस्व दातवे ।।

(ऋग्वेद ८।१९।२९)

हे परमेश्वर हम तुम्हारी ही भक्ति करें, क्योंकि आप ही ज्ञान स्वरूप हैं। वेदों ने आपका ही वर्णन किया है। वह परमात्मा अपने आश्रित भक्तों पर सदा प्रसन्न रहता है। **'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता'** वही परमात्मा ही हमारा बन्धु एवं माता पिता है।

ऋग्वेद में परमात्मा ही हमारी रक्षा करता है, यह वर्णन किया गया है।

न तमहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुन द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद्ध्वरसो विबाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ।।

(ऋग्वेद २।२३।५)

हे परमेश्वर ! आप जिसकी रक्षा करते हो उसको जीवन में पाप, दुराचार, रागद्वेषादि शत्रु कोई बाधा नहीं पहुँचा

सकते । अतः स्पष्ट हो गया कि इस मन्त्र द्वारा भगवद् भजन करने वाले भक्त या अर्चक को संसार की माया या अन्य किसी प्रकार की बाधा या क्षोभ नहीं होता क्योंकि यह अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का आश्रय ईश्वर की आराधना में संलग्न है ।

जो अपराध भक्त कर करई । राम रोष पावक सो जरई ।।

पुनः वेद भगवान् अनुग्रह करते हैं कि वह एक होते हुए भी बहुत्व में परिणत होता है ।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।।

(ऋग्वेद १०।११४।५)

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्त्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।

(ऋग्वेद १०।८१।३)

वह परब्रह्म परमात्मा इस सृष्टि का स्रष्टा कहा गया है । वह एकत्व विशिष्ट होकर भी शोभित होता है और वह बहुत्व में परिणत होता है । अर्थात् अनेक रूपों में भी अपनी अभिव्यक्ति करता है । ब्रह्म सम्बन्धी भाव को ब्राह्मी अवस्था भी कहते हैं । यह ब्रह्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है । यदि जगदुतर कोई तत्व सब तन्त्र सिद्धान्त से मान्य हो जाता हो और उसका स्वरूप भी उसी सिद्धान्त से निर्धारित हो गया होता तो वह दुरूह नहीं कहा गया होता, परन्तु ऐसा नहीं है और ऐसा हो भी नहीं सकता । जो तत्व लौकिक प्रमाणों से अत्यन्त दूर हो जाता है उसके साथ अनेक प्रकार की आपत्तियाँ स्वयं जुड़ जाती हैं । वह है या नहीं ? यदि वह है तो कैसा

है ? उसका प्रयोजन क्या है ? उसके साथ इस सांसारिक जीव का क्या सम्बन्ध है ? वह साकार है या निराकार है ? यदि साकार है तो नित्य है कि अनित्य है ? साकार पदार्थ नित्य होते हैं या नहीं ? यदि वह निराकार हैं तो सगुण या निर्गुण? यदि वह सगुण है तो उसमें सामान्य ही गुण हैं कि कुछ विलक्षणता लिए हुए हैं ? यदि वह निर्गुण ही है तो मुझे उसकी आवश्यकता ही क्या है ? एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं ।

इस विषय पर अनेक दार्शनिक विद्वानोंके अपने-२ विचार हैं। दर्शनों के भी अपने विचार हैं। उन विचारों को यहाँ कुछ उद्धृत किये जाते हैं । सबके अपने-२ मत हैं ।

१- केनोपनिषद्में कहा गया है—जिसे वाणी नहीं कह सकती पर वाणी का जो कारण है वही ब्रह्म है । जगत् या जगत् की कोई वस्तु ब्रह्म नहीं है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युत्पद्यते ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

२-"सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः सर्वानुभावी"
[वात्स्यायन १।१।६]

सबका द्रष्टा, भोक्ता एवं सर्वज्ञ और सर्वानुभावी ब्रह्म है।

३-नित्य ज्ञानाद्यधिकरणत्वम् । [त० दी० सि० च०]
नित्य ज्ञान आदि का अधिकरण ब्रह्म है ।

५-क्षित्यङ्कुरादिकं कार्यं स्वर्गापूर्वादि नाम च। लिङ्गमीश्वर सद्भावे कणादाः संप्रचक्षते ।।

क्षित्यङ्कुरादि कार्य स्वर्ग, अपूर्व आदि नाम को ईश्वर के अस्तित्व में कणादानुयायी प्रमाण मानते हैं।

५-यः सर्वज्ञः एकः एव चास्माकमीश्वरः [न्याय म०]
ईश्वर सर्वज्ञ एवं एक है।

६-द्यावा भूमी जनयन्देव एकः ।
द्यु लोक एवं भूर्लोक का यह उत्पादक है।

७-विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
विश्व का वही कर्त्ता एवं वही रक्षक है।

८-यः सर्वज्ञः स सर्वविद्—वह सर्वज्ञ है।

९-परमात्मा शरीरी पुरुषादृष्टेन कान्ताशरीरस्येव अस्मदीया दृष्टेन तच्छरीरस्य इच्छाप्रयुक्तस्य जनन सम्भवात् इति नैयायिकाः ।

जीवों के अदृष्ट से परमात्मा शरीरी है। उसके शरीर की सम्भावना है। जैसे पुरुष पति के अदृष्टसे पत्नी का शरीर बनता है। उसी प्रकार जीवों के अदृष्ट से वह द्विभुज राम, चतुर्भुज विष्णु आदि भी हो सकता है।

१०-परमाणव एवेश्वर शरीरमिति केचित् ।
परमाणु ही ईश्वर के शरीर हैं।

११-आकाशमेवेश्वर शरीरमिति केचित् ।
आकाश ही ईश्वर का शरीर है।

१२–ईश्वरः सर्गादौ शरीरद्वयं परिगृह्य व्यवहरतीति केचित् ।

ईश्वर इस सृष्टि के आरम्भ में स्त्री और पुरुष इन दो शरीरों को धारण करके व्यवहार करता है।

१३–संसारिणामदृष्टवशात् ईश्वरस्य शरीरं तच्च ब्रह्म-विष्णुशिवात्मकमिति केचित् ।

संसारियों के अदृष्ट से ही शरीर बनता है । उसी को ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नाम से पुकारा जाता है ।

१४–भूतावेशन्यायेन ईश्वस्य शरीर इति केचित् ।

जैसे किसी शरीरमें भूत का प्रवेश होता है उसी प्रकार ईश्वर का भी शरीर है।

१५–ईश्वरः शरीर रहित एव । परन्तु संसार पङ्कनिम-ग्नान् अज्ञानिनः उद्दीर्घषुः लीलाविग्रहं दधातीति केचित् ।

ईश्वर शरीर रहित होते हुए भी भक्तों एवं भोले संतों के उद्धार के लिए लीला विग्रह धारण करता है ।

१६-जीवा एवेश्वरशरीरमिति केचित् ।

यह जीव ही ईश्वर का शरीर है ।

१७–अप्राकृतं सच्चिदानन्दाद्येव शरीरमिति ।

अप्राकृत सत् चित् आनन्दादि ही ईश्वर के शरीर हैं।

१८–कलेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष-ईश्वर इति पतञ्जलिः ।

क्लेश कर्म विपाक आशय आदि से असम्बद्ध पुरुष विशेष ईश्वर है ।

१६–शरीरनिरपेक्षो ज्ञानवानीश्वरः । शरीर की अपेक्षा बिना ही ज्ञानवान् ईश्वर है ।

२०–उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

गीता में उत्तम पुरुष ही परमात्मा है ।

२१–ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते । (भागवत)

ब्रह्म, भगवान्, परमात्मा आदि नाम धारण करने वाला ईश्वर है ।

२२–नित्य ज्ञानादिमान् । नित्य ज्ञानवान ईश्वर है ।

२३–मायावच्छिन्न चैतन्यमीश्वरः । मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है ।

कर्मैवेश्वरः । कर्म ही ईश्वर है अर्थात् कर्मशील व्यक्ति में ईश्वरत्व आ जाता है ।

२४–वेदोक्तकर्मणः फलदात्तेश्वरः । वेदों में कहे गये कर्मों का फल देने वाला मात्र ईश्वर है ।

२५–यावदुक्तोपपन्नः कर्त्ता । कर्त्ता ही ईश्वर है ।

२६–पुरुषोत्तमः ईश्वरः । पुरुषोत्तम ईश्वर है ।

२७–"**यज्ञपुरुषः ईश्वरः**" यज्ञ पुरुष ईश्वर है ।

२८–"**ब्रह्म शब्द वाच्यो गुण परिपूर्णो विष्णुः**" ब्रह्म शब्द वाच्य गुणों से परिपूर्ण विष्णु ईश्वर हैं ।

२९–"**काल एव ईश्वरः**" काल ही ईश्वर है ।

३०–यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ।

जिससे ये सब संसार उत्पन्न होते हैं। इन सब को जो जिलाने वाला है। जिसमें ये सभी भूत निवास करतेहैं वह ब्रह्महै।

३१–वही ईश्वर है। **"कं ब्रह्म" कम्—सुखम्** ब्रह्म है। अर्थात् जगत्में जो सुख है वह ब्रह्म है।

३२–ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्। (४।१।१९)

संसार में जीव चाहता तो बहुत कुछ है पर उसकी इच्छापूर्ति नहीं होती। इससे अनुमान होता है कि जीव के कर्मों का फल किसी अन्य के अधीन है। क्योंकि यदि अपने अधीन होता तो मानव आज पता नहीं क्या कर डालता। पर उसकी अभिलाषायें उठती तो हैं पर मन में ही उभर कर रह जाती हैं। प्रायः संसारमें चरितार्थ नहीं होतीं। अतः स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के फल का वितरक कोई भिन्न शक्ति अवश्य है। जिसके द्वारा हम सभी संचालित हैं। उसी का नाम ईश्वर है। वही सबका नियन्ता है। वही पूज्य है। और हम उसी की अर्चना भी अनादि काल से करते हुए चले आ रहे हैं। निर्गुण होते हुए भी सगुण है। यदि सगुण न हो तो संसारमें वह व्यभिचरित ही नहीं हो सकता। जितने विचार यहाँ उपनिषद्,वेद, दर्शन, पुराण, गीता, ऋषि, विद्वान, विचारक आदि के दिये गये हैं उन सभी की परिभाषाओं में सगुणरूप का ही किसी न किसी रूपमें घुमा फिरा कर पोषण होता है। क्योंकि बिना सगुण के श्रुति की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। यदि एक अक्षर भी ब्रह्म के बारेमें निकल गया तो उसका मङ्गलाचरण

ही सगुण से हो गया। अतः ब्रह्म के जितने व्यापक स्वरूप की चर्चा मन्त्रों में है वे सभी सगुण से ही प्रारम्भ होते हैं। आगे चलकर वे भले ही निर्गुण परक हो जायें अथवा वे निर्गुण में ही चरितार्थ हों परन्तु उनका प्रारम्भ मात्र सगुण से ही होता है। जब सगुण स्थूल का ज्ञान, ध्यान, पूजन नहीं हो पायेगा तो कोई निर्गुण में कैसे प्रवृत हो सकता है।

क्योंकि प्रापक जीव है। वही ईश्वर को प्राप्त करता है। जीव का यह सहज कर्तव्य है कि वह ईश्वर की ओर जाय तभी उसका उद्धार हो सकता है। परन्तु अज्ञान की काई इतनी जबरदस्त पड़ गयी है कि जीव उधर मुड़ ही नहीं पाता। उसके लिए उसको आधार चाहिए जिसमें उसका मन टिक सके। वह है भगवान् के अर्चा स्वरूप का पूजन अर्चन आदि, जिसके द्वारा उसके हृदय की काई शनैः-२ धीमी पड़ने लगती है और उसका मन भी स्थिर होने लगता है। अतः वेदों में कर्मकाण्ड रूप यज्ञों की चर्चा अधिक की गयी है। उन सभी कर्मों का एक मात्र फल भगवान् में हमारी आसक्ति हो और सांसारिक सुख मलिन पड़ जाय। अतः श्रुति भगवती अनुग्रह करती है कि सगुण का विवेचन कर जीव को भगवान् के समीप में पहुँचाती है। और तब परमात्मा की ओर जाने के लिए गुरु आचार्य आदि के शरणमें जीव पहुँचता है। तब उसका हृदय-पटल खुलता है। सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान परमेश्वर संसार की रचना किस प्रकार करता है, इसका उत्तर श्रीसम्प्रदाय के ही आचार्य श्री व्यास जी ने अपने ब्रह्मसूत्र में दिया है।

"देवादिवदपि लोके" (ब्रह्मसूत्र २।१।२५) देवता पितर ऋषिगत चेतन होते हैं। इनको अपने या अन्य कार्य के सम्पादन में किसी को सहायता की आवश्यकता नहीं होती। इसका विवेचन मन्त्र अर्थवाद, इतिहास, पुराण करते हैं। ठीक इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाहरके साधनों के बिना ही जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने में पूर्ण समर्थ है। अतः वेद स्तुति में पहले यही शंका वेदों द्वारा उपस्थापित की गयी है कि—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ।।

(भा० १०।८७।१)

जाति, गुण, क्रिया से परे ब्रह्म कार्य कारणातीत है, अनिर्देश्य है। मन वाणी की गति ही वहाँ नहीं है, ऐसी परिस्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस प्रकार से करती हैं। निर्गुण ब्रह्म को कहने का सामर्थ्य उसमें हो, ऐसी प्रतीति नहीं होती। 'डित्थः' 'डवित्थः' ये तो कहे जा सकते हैं। **"अयं डित्थः" 'डित्थः काष्ठमयो हस्ती" डवित्थस्तन्मयो मृगः** । डित्थ तो काष्ठ के हाथी को कहा जाता है। डवित्थ तो काष्ठमय मृग को कहा जाता है। प्रत्यक्ष की वस्तु में तो शक्तिग्रह कराया जा सकता है। ऐसा ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जाय तो उसे बोध कराने में कोई कठिनाई नहीं है, पर जहाँ जाति के आधार पर शक्ति ग्रह होता है। गो की शक्तिग्रह सास्नादि

व्यक्ति में होता है। जाति के आधार पर ब्राह्मण पद की प्रवृत्ति जाति में होती है। 'नीलोत्पलम्' नील शब्द गुण के आधार पर नील में प्रवृत्त होता है। **लावकः, पाचकः**, शब्दों की प्रवृत्ति क्रिया के आधार पर होती है या अर्थ प्रकाशन होता है। धनी, गोमान् आदि शब्दों का सम्बन्ध होने के कारण होता है। परन्तु ब्रह्म तो रूप, जाति, गुण,क्रिया आदि सम्बन्धसे सर्वथा रहित है।

ब्रह्म का हम निर्देश नहीं कर सकते क्योंकि उसमें न जाति है, न गुण है, न क्रिया है, न संग है। एक होने के कारण जाति नहीं है क्योंकि जाति का लक्षण है—**"नित्यत्वे सति अनेक सम-वेतत्वं जातित्वम्"** जो नित्य होकर अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहे उसे जाति कहते हैं। वेदान्त में तो वह ब्रह्म एक ही है, अतः जाति नहीं है। निर्गुण होने से गुण नहीं है। असंग होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः शब्द कैसे ब्रह्म में प्रवृत्त होते हैं? श्री मद्भागवत में यही प्रश्न उठाया गया है। **'सदसतःपरे'** सत्-असत् दोनों से परे ब्रह्म में गुण वृत्ति की श्रुतियाँ कैसे प्रवृत्त होती है। यहाँ यह शंका की गयी है।

उसका समाधान इस प्रकार से किया जाता है। यद्यपि श्रुतियाँ शब्द प्रधान होनेके कारण सगुण का ही निरूपण करती हैं, यह सत्य है। पर विचार करने से ज्ञात होगा कि उनका पर्य-वसान प्रायः निर्गुण में ही होता है। उस परमपिता परमात्मा ने बुद्धि, इन्द्रिय, मन, एवं प्राणों की रचना की है। इसके द्वारा धर्म, कर्म, फल, योग के साथ चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हम

तो चन्द्रमण्डल, भूमण्डल, गगन, सागर, पर्वत आदि का निर्माता परमात्मा सगुण कैसे नहीं है। अर्थात् वह पूर्ण रूपेण है। **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**, (तैत्ति० ३।१) उपनिषदों में **इदम् ब्रह्म**, कई स्थानों पर आया है। इदम् शब्द का प्रयोग तो समक्ष में उपस्थित हो, तभी प्रयोग किया जाता है। **,एषो मनुष्यः,**, मानवाकृति देख कर ही 'एष, का प्रयोग किया गया है। महा भारत में कथा आती है कि धर्मराज के साथ स्वयं त्रिलोकीनाथ रहे पर वह पहचान नहीं पाये। एक दिन सभा में नारद ने यह रहस्य खोल दिया। धर्मराज ने कहा—अभी मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए। नारदजी ने कहा आश्चर्य है! कृष्ण की ओर इशारा किये तो वह बोले-- ये तो मेरे मामा के लड़के हैं। नारदजी ने कहा-**'इदम् ब्रह्म'** ब्रह्म यही है। सगुण रूप में भी पर-मात्मा सदैव मेरे पास रहे, तब भी पहचान में नहीं आता। अतः ऋषियों ने अपने अनुष्ठान में सगुण ब्रह्म का सदैव दर्शन किया है। वह जाति, गुण, क्रिया से ऊपर होकर भी हमारे भावानुसार अनेक रूपों में प्रकट होता ही है। विषयों से अभिभूत होकर हम उसे न पहचान पायें, यह अलग की बात है। यह जगतरूप कार्य किस उपादान से बना है? उपादान कहाँ से आया? यदि विचार किया जाये तो उपादान कहीं बाहर से नहीं आया। **"अवयववन्तोऽपि पदार्थाः किमजन्मानो भवन्ति**, अवयव युक्त यह जगत् क्या जन्म रहित है? अतः स्पष्ट हो जाता है कि कार्यत्व का प्रयोजक सावयवत्व है। **अधिष्ठातारं किमनादृत्य उपेक्ष्य भवविधिः भवोत्पत्तिर्भवति !** अधिष्ठान के बिना कहीं संसार

की उत्पत्तिहो सकतीहै ? नहीं। अतः वही ब्रह्मही सबका अधिष्ठान होने से सगुण है और निर्गुण भी।

अतः सत्य परब्रह्म है। उस सत्य का प्रापक मात्र जीव ही है और प्राप्य ईश्वर है। अतः जीव का ब्रह्म के साथ सम्बंध है। ये सम्बन्ध सभी प्रकार के हो सकते हैं। हमारे भावों के अनुसार ही उसकी प्राप्ति होती है। यदि हम अर्चा के रूप में चाहते हैं, यदि हम सत्य के रूप में उसका दर्शन चाहते हैं, यदि हम प्रकाश या ज्योति के रूप में उसका दर्शन चाहते हैं, यदि विग्रह रूप में हम उसका दर्शन चाहते हैं तो वह हमारी इच्छा के अनुसार ही परिणत होता है। वेदों में शास्त्रों में उसकी विशेष चर्चा को गयी है। उसकी करुणा तो जीव मात्र में है। **कारुण्यं जीव मात्रे"** अतः जीव का उसके साथ सम्बन्ध है। ब्रह्म और जीव का **आधाराधेय** सम्बन्ध है। **धार्य-धारक सम्बन्ध** सिद्ध ही है। शरीर-शरीरी इन सम्बन्धों द्वारा जीव को ईश्वर नित्य ही प्राप्त है और इसकी प्रसिद्ध भी है। तब भी इस विषय का परि-ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है कि भगवान् के साथ अथवा उस ब्रह्म के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। यह जानना चाहिए कि मैं धार्य हूँ और परमात्मा मेरा धारक है। मैं पाल्य हूँ, ईश्वर मेरा पालक है। मैं रक्ष्य हूँ और ईश्वर मेरा रक्षक है। मैं सेवक हूँ और भगवान् मेरे सेव्य हैं। ये सभी ज्ञान बिना आचार्य के नहीं होते। श्रुति कहती है '**आचार्यवान् पुरुषो वेद, सत्यमेव परब्रह्म**' सत्य ही पर ब्रह्म है। इन सबका फल है भगवत्प्राप्ति। भक्तों

और प्रपन्नों से परिपूर्ण साकेत लोक में त्रिलोकी नाथ राम जी सतत निवास करते हैं। मुक्त जीवों का सतत निवास भगवत्-प्राप्ति का फल है। जिस भगवल्लोक में काम क्रोधादिक दोष हैं ही नहीं और न परस्पर शत्रुता व दुष्टाचरण की बुद्धि है।

रामजी के दास्य भक्ति के अग्रणी श्रीहनुमानजी ने भक्ति-स्वरूपा सीता का अन्वेषण किया। यह ऋग्वेद में बड़े ही समा-रोह के साथ वर्णन किया गया है। वेदमें सहस्र का अर्थ नीलकंठ ने श्रीराम या विष्णु किया है।

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः, स्पशः स्वंच सुदृशो नृचक्षसः।।

(ऋग्वेद ९।७३।७)

महा विद्वान् श्रीनीलकंठ सूरि ने अपने भाष्य में अर्थ किया है—**आसमन्तात् वितते व्याप्ते महाविष्णोः (अर्थात् रामस्य) सोमांशु रूपेण** अर्थात् सोम किरणों के रूपमें अमृत की सहस्र-२ धारायें अथवा स्वरूपसे ही सच्चिदानन्दमय अनन्त प्रवाह करने वाले, सर्वत्र व्यापक परम पवित्र श्रीराम के निमित्त मनीषी कवि वाल्मीकि आदि उनके चरित्र गुणगान के द्वारा अपनी वाणी को पवित्र करके कृतार्थ होते हैं, उन्हीं में रुद्रावतार श्रीहनुमान जी भी हैं जो स्वभावतः अद्रोही अद्‌भुत गति वाले (स्पश) गुप्त रूप से श्रीसीताजी का अन्वेषण करने वाले बहुत सुन्दर संचरण करने वाले, नृचक्षा-भक्ति मूर्ति सीता के प्रत्यक्षदर्शी हैं। लंका ऐसी नगरी से अपने प्रेम और भक्ति एवं सच्ची सेवा के बलपर

लंका में भी ढूढ़कर निकाल ही लिया और उन भक्ति महारानी का साक्षात् दर्शन किया। यह श्री हनुमान जी भी उच्चकोटि के श्रीरामचरित के निर्मायिक है। अपनी दास्य भक्ति आपने हनुमान-नाटक में व्यक्त किया है। वहाँ रामजी में अपनी अविरल भक्ति-निष्ठा उपस्थित की है।

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भक्ति ज्ञान एवं अविरल प्रेम सभी एक साथ दर्शनीय है। बिना प्रेम भक्ति पूजन के साधक में निष्ठा आ ही नहीं सकती है। यह बात पहले भी मैं कह चुका हूँ। वेदों के सभी मन्त्र सगुण परक ही हैं। बिना सगुण के एक शब्द भी ब्रह्म के बारे में श्रुति बोल ही नहीं सकती। अतः बार-२ अक्षर ब्रह्म की पुनरुक्ति वेदों में सवत्र प्राप्त होती है। हमारे यहाँ आठ प्रकार की मूर्तियों के पूजन का विधान वैदिक वाङमय में वर्णन किया गया है। जिसमें काष्ठमयी, गोमयी, मृत्तिका-मयी, पाषाणमयी प्रतीकमयी, सिकतामयी, धातुमयी, अक्षरमयी अक्षर ब्रह्म की उपासना-अक्षर बनाकर तथा रेखा खींच कर स्वास्तिक बनाकर, चौक पूरकर आज भी किया जाता है। यह अर्चा विग्रह के रूप में सगुण साकार के रूप में फलमयी देवता, देवी, भवानी ब्रह्म के पूजन का विधान विद्यमान है। अतः हमारी सगुण साकार की उपासना वेद प्रतिपादित, स्मृति प्रतिपादित है पुराण इतिहास में तो है ही। इस प्रकार हमारी उपासना पूर्ण वैदिक है। जो ऐसा नहीं मानते या नहीं जानते हैं, उनका दोष नहीं है। वेदों के तात्पर्य को पढ़कर भी अनुगम नहीं कर सकते हैं।

अवतारों का विवरण तो ऊपर मैंने १० अवतारोंकी चर्चा में किया है। उसको मूल सहित उपस्थापित किया गया है। अवतार की चर्चा हो गयी है—वेदों में प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति के अंग प्रत्यंग की भी चर्चा की गयी है।

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव ! त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचोनाय ते नमः। अंगेभ्यस्त उदराय जिह्वाय आस्याय ते दद्भ्यो गन्धाय ते नमः। (अथर्व वेद ११।२।५–६)

हे पशुपते शिव। आपके मुख को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, रूप को, अंगों को, उदर को, जिह्वा को और नासिका को नमस्कार हो। यहाँ मूर्तिके अंग प्रत्यंग को प्रणाम नमस्कार हुआ।

प्राणप्रतिष्ठाः—एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षुरथो बलम्। अथर्व० ५। ३०। १२। इस प्रतिमा में प्राण आवे, मन आये, नेत्र और बल आये, अतः भगवान् के सभी अंगों को भक्त प्रणाम करते हैं। मूर्ति को नमस्कार भी वेद में किया गया है। जो लोग आज पाषाण विग्रह की अवहेलना करते हैं उनको बिचार करना चाहिए कि मन को रोकने के लिए विग्रह की पूजा ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी के द्वारा मन स्थिर होता है। प्रतिमा पूजन का विधान पूर्ण वैदिक है।

मूर्ति पूजा किसी न किसी रूप में सभी लोग करते हैं। स्वामी दयानन्द ने तो संस्कार विधि में (पृष्ठ ६२–७४) में ऊखल, मूसल, छुरा, झाड़ू, कुशा, और जूते तक का पूजन लिखा है। यजुर्वेद में १२।७०।) में सुहागे के लिए जल या दुग्ध से सींचा

हुआ पतेला घी, सहद या शक्कर आदि संयुक्त करो। पतेला हम लोगों को घी आदि से परिपूर्ण करेगा। लिख कर उसको पंचामृत से पूर्ण कराना और अभीष्ट की याचना करना लिखा है।

मुसलमानों की 'कब्र परस्ती' मक्के में **काले पत्थर** को चूमना। इसाइयों का **क्रास चूमना** एक प्रसिद्ध बात है। इतने पर भी मात्र सनातन धर्मियों को बुतपरस्त कहना नितान्त अज्ञा-नता है। सनातन धर्मी ईश्वर की सर्व व्यापकता का वास्तविक आदर्श स्थापित करने वाले हैं। वे गीता के **यद् यद् विभूति--मत्सत्वम्** के सिद्धान्त को जीवन में कार्य रूप में परिणत करके सदा दिखाते रहे हैं। **जन्माद्यस्य यतः** (ब्रह्म सूत्र ३) के अनुसार उसी परमात्मा से अनन्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। घट के निमत्त कुलाल और मिट्टी सभी का निर्माता वही है। कटक, कुण्डल, मुकुट, बनाने वाले वही और सोना भी बनाने वाले वही, मशीन बनाने वाले और मशीन का निमित्त लोहा बनाने वाले वही हैं। समस्त प्रपञ्च का निर्माण करने वाले वही सर्व-शक्तिमान् परमात्मा ही हैं। सबका निमित्त और उपादान कारण भी वही है। वही विश्व बनाता है और बनता भी है। वही रक्षक भी है। वही रक्षित भी है तब वह अलग कैसे हो सकता है। वह सदैव हमारे ऊपर कृपा की वर्षा करता है। वही सगुण और निर्गुण बनकर सभी कार्यों को हमारे भावों, प्रेम, स्नेह सब को देख रहा है। एक क्षण के लिए भी उसकी कृपा की वर्षा रुकती नहीं है। वह अर्चा बनकर भी मेरे भाव प्रसूनों को बड़ी

कृपा पूर्वक वह ग्रहण करता है। जिससे यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है वही परमात्मा है। वही भगवान् है। वह परम कृपालु एवं दया का सागर है। जीव यदि एक पग उनकी ओर चलता है तो वह अनेक पग चलकर जीव की ओर आते है। वही वेद है तथा वही ब्रह्म ही वेद्य भी है। अतः सगुण रूपमें, अर्चा रूपमें भक्तों की अभिलाषा भी वही पूर्ण करता है।

'सपर्यगात्' और 'अकायम्' पद का अर्थ है प्राकृत शरीर से रहित। उसका दिव्य शरीर तो है ही। यदि सर्व शरीर का अभाव कहेंगे तो 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' आदि विशेषण व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि शरीराभाव में इन सबका अभाव स्वयं सिद्ध है। परन्तु दिव्य शरीर स्वीकार करने पर वे सभी विशेषण सार्थक होते हैं। अतः सर्व शरीर का अभाव नहीं माना जा सकता। शरीर का अत्यन्ताभाव मानने पर **'यस्य पृथ्वी शरीरम्'** आदि श्रुतियाँ व्यर्थ पड़ जायेंगी। यह मन्त्र ईशावास्योपनिषद् का है।

अतः उपनिषद् में भी सगुण रूपमें उस ब्रह्म का वर्णन किया गया है। भगवान् पद वाच्य परमात्मा सर्वज्ञ है। वह अमुक स्थान में नहीं है ऐसी बात नही हैं। वह सबका निर्माण करते हैं। उसमें कभी भूल नहीं होती। भगवान् की यह सृष्टि, संहार आदि क्रिया अनादिकाल से चली आ रही है और अनादि अनन्तकाल तक चलती रहेगी। प्रभु की सभी क्रिया सहज रूपमें ही सम्पादित होती है। जैसे रात्रि के बाद दिन और दिन के बाद रात्रि होती है उसी प्रकार से यह अनादि काल से होता

चला आ रहा है। परन्तु इनमें जो उच्चकोटि के साधक भक्त हैं, वह मन बुद्धिसे उस परब्रह्म स्वरूप का दर्शन करते ही हैं। श्रुति कहती है—**"दृश्यते त्वग्र्‌या बुद्ध्‌या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि."** (कठ० १।३।१२) मन तो भगवान् का दर्शन करता है। श्रुति अनुग्रह करती है—**"मनसैवानुद्रष्टव्यम्"** (कठ उ० २।४।११) **"मनसैवेदमाप्तव्यम्"** (२।४।११) मन से भगवत् दर्शन होना सम्पूर्ण शरीर की इन्द्रियों का भी दर्शन होना है, इत्यादि श्रुतियों का यही तात्पर्य है।

जो अलक्ष्य है। अग्राह्य है। निराकार, निर्विकार, परब्रह्म है वही रामजी और श्रीकृष्ण आदि के रूपमें साधकों के नेत्रों का विषय बन आता है। यह उसकी निर्हेतुकी कृपा है। श्रुति कहती है—

"यच्चक्षुषा न पश्यति" (केन० उ० १।६)

"यन्मनसा न मनुते" (केन० उ० १।५)

वह चिन्तन, मनन और ध्यान से भी परे है। **'नेति-नेति"** कह कर वेद वेदान्त इस प्रकार जिसका निरूपण करते हैं वह भक्तों पर अनुग्रह करके अपनी कृपा द्वारा हमारे समक्ष आकर दर्शन देता है। क्योंकि नेत्रों को रूपामृत प्रदान करने के लिए अदृश्य, अग्राह्य ब्रह्म ही रूपवान हुआ है नहीं तो फुलवारी में सखी उनका दर्शन कैसे पाती! यह भी उस ब्रह्म की अहेतुकी कृपा ही कही जायगी।

अवतार और सगुण:-

ऋषि लोग जब यज्ञ के सभी कार्य सम्पादित कर चुके तथा आहुतियों द्वारा अग्निदेव को जब संतुष्टकर लियातो भगवान् श्रीरामजी की स्तुति करने लगे ।

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रं तुष्टुवम् ।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।।

(ऋग्वेद ३।५३।१२)

षाड्ऐश्वर्य परिपूर्ण श्रीरामजी की हम स्तुति करते हैं जो पृथ्वी एवं स्वर्ग मण्डल के रक्षक हैं । जो श्रीराम यज्ञ की और यज्ञभूमि इस भारतवर्ष की सदैव रक्षा करते हुए चले आ रहे हैं और अपने आश्रित भक्तों के लिये नाम आदि के अवतार धारण करके सदैव रक्षा करते हैं ।

इस मन्त्र के मूल में **'जनम्' 'रक्षति'** पद सहेतुक हैं । जनम् का प्रयोग प्रायः भगवान् के अन्तरङ्ग भक्तों के लिए ही होता है। मानस आदि में इसके बहुत उदाहरण हैं। वाल्मीकि रामायण में भी **'जनम् रक्षति'** का प्रयोग मिलता हैं । जब-२ इस विशाल भारतवर्ष की कुक्षिमें अनाचारियों पापाचारियोंकी वृद्धि हुयी तथा धरा कराहने लगी तब-२ भगवान्, वही वैदिक परब्रह्म ने अवतार लेकर अपने जनों की रक्षा किये हैं अतः वेद में **'जनम् रक्षति'** पद का प्रयोग किया गया है ।

'स्वजनम् रक्षति सर्वदा' 'रक्षयिष्यामि मा शुच' [गीता]

इन आर्ष ग्रन्थोंमें भगवान् की प्रतिज्ञा है। मानसमें—

जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे, जानि जन दीना।

जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ।

हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी।।

"जनम् रक्षति" का प्रयोग वेदमें प्राप्त होना ही स्पष्ट करता है कि अपने भक्तों पर अनुग्रह करके वह परब्रह्म परमात्मा अवतार लेकर आर्त्तों की रक्षा सदैव करता है। इस धराधाम पर परब्रह्म परमात्मा का मङ्गलमय विग्रह मात्र भारत वर्ष की पावन भूमि में होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसका प्रधान कारण है कि ब्रह्म का एक नाम **'यज्ञ पुरुषः'** भी है। और यह यज्ञ का कर्मकाण्ड मात्र भारतवर्ष में ही सम्पन्न होता है अन्यत्र नहीं। वैदिक विधि की प्रक्रिया मात्र भारतवर्षमें ही होती है। अतः **'धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे'** कहा गया है। यह कर्म क्षेत्रहै। यहाँ आने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं।

अतः अवतार मात्र भारतवर्ष में ही होता है। अन्य देशों में नहीं होता, क्योंकि वहाँ **यज्ञ पुरुष** का पदार्पण नहीं होता है। यदि वे लोग भी यागादि कर्मकाण्डों को महत्व देने लगें तो वहाँ भी ब्रह्म का अवतार अवश्य होने लगे। ऋग्वेद के इसी मन्त्र से रामायण और मानस आदिमें स्तुति की परम्परा चली है। ऋग्वेदमें गौतम ऋषि ने अपने को सेवक के रूपमें दास कह कर अपनी शरणागति प्रकट किया है।

"अरं दासो मीढुषे" (ऋग्वेद ८।८६।९)

मैं गौतम, मेरी भार्या का उद्धार करने वाले श्रीराम जो अनन्त मनोरथों की वर्षा करने वाले हैं, उनका दास हूँ। अतः सेवक होनेके कारण मैं उनका दिव्य गन्ध पुष्पादिसे अलंकृत करके पूजन करता हूँ।

यहाँ ऋषि पूजन ही सिद्ध करताहै कि परब्रह्म परमात्मा के अर्चा स्वरूप का पूजन करके ऋषि गौतम ने अपनी भार्या अहल्या का उद्धार देख और प्रसन्न होकर उसको ग्रहण किया। एवंविध रामजीका पूजन सत्कार करके अपनी तपःस्थली को चले गये। यह सगुण साकार तथा अर्चा विग्रह की चर्चा एवं उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने रामजी की अत्यन्त प्रशंसा की है और कहा है कि सर्वस्वामी एवं दीप्तिमान होने के कारण निर्दोष हैं। आपने मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा किया है।

आभुवः अग्निः सः बुद्धि सह परेण धर्मणा जातः।

(साम १।६।१०)

विविध जन्म या अवतार धारण करने वाले तथा सर्व धर्म की रक्षा करने वाले प्रभोः हम लोग आपकी स्तुति करते हैं। यहाँ इस मन्त्र में रामजी के शरीर अर्थात् विग्रह की ही स्तुति की गयी है।

जब जनकपुर में रामजी को श्रीपरशुरामजी ने परब्रह्म के रूपमें जान लिया तो उनकी की स्तुति करना प्रारम्भ किया। उस समय नरावतार की मर्यादा पालन करने वाले श्रीसौमित्रि जी इस प्रकार बोले।

रामोऽहं अचितीय तव धर्मपथायुषोऽपिममानः ।

तस्मादेनसो देवरीरिष ।। (६०। ऐ० ब्राह्मण)

हे ब्रह्मर्षिवर! यदि मैं लक्ष्मण तथा श्रीरामजी ने आप के लिए कोई अवाच्य शब्द का प्रयोग किया है तो कृपया आप क्षमा करें और मुझे अपराधी होने से बचाइये । यह सशरीर-धारी परब्रह्म श्रीरामचन्द्र के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है । वेदों में अवतार और सगुण परक अर्चा विग्रह के रूपमें इस प्रकार के अनेकों मन्त्र प्राप्त हैं। पर जिसने वेद का दर्शन नहीं किया है, एक भी अक्षर संस्कृत नहीं आता, वे बेचारे कह देते हैं—श्रीराम का वर्णन वेदोंमें नहीं प्राप्त होता। श्रीराम-चरित्र वेदों में हैं। उनका पहचान सामान्य लोग नहीं प्राप्त कर सकते ।

द्विजाः अह प्रथमजाः ऋतश्चेदं धेनुरदुहज्जायमाना ।।

(ऋग्वेद १०।६१।१९)

अन्वय—प्रथमजाः द्विजाः जायमाना धेनुः अह अदुहत् ।

अनादि परब्रह्म जो सबका प्रकाशक है वह द्वितीय जन्म ग्रहण करता है । प्रत्येक कल्पमें वह दशरथापत्य श्रीरामजी के रूपमें अवतार लेता है ।

श्रीगोस्वामी पाद ने यहीं से भाव लेकर लिखा है ।

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ।।

ऊपर के मन्त्र का तात्पर्य उपर्युक्त चौपाई में व्यक्त हो रहा है। वह राम अनादि ब्रह्म ही अवतरित होकर समस्त विश्व को धर्म,चरित्र,सत्यता, सदाचरण के आलोकसे आलोकित किये। उस परब्रह्म परमात्मा के लिए वेदमें आया है—

ऊर्ध्वा यच्छ्रेणीर्न० (ऋग्वेद १०।६१।२०)

श्रीराम ऊर्ध्व स्थान अर्थात् जो मोक्षाकांक्षी हैं,उनके लिए सीढ़ी रूप आश्रय प्रदान करते हैं और उस जीव को संसार-सागर से पार कर देते हैं। अर्थात् उस अर्चा स्वरूप का भजन पूजन करने वाला इस मृत्यु रूप संसार को पार कर जाता है। उसका जीवन अपने अर्च्य प्रभु में संलग्न होने के कारण जगत के क्षोभ से मुक्त हो जाता है।

आधुनिक समय में कुछ लोग कह देते हैं कि वेदों में कहीं राम शब्द की चर्चा तक नहीं है। वह बिना विचारे देखे ही ऐसा बोल देते हैं। जब कि सत्य यह है कि वेदों का दर्शन भी उन लोगों ने नहीं किया है। सुनी सुनाई बात को लेकर ढोने लगते हैं। वे दया के ही पात्र कहे जायेंगें अथवा वे दुरा-ग्रही ही हैं। वेदोंमें रामजी के नाम सहस्र-२ मन्त्रोंमें विद्यमान हैं। यहाँ कुछ दिखाये जा रहे हैं—

१- **प्रतद्दुःशीमे पृथ्वाने वेने प्रराम अवोचम्।**

(ऋग्वेद १०।९३।१४)

२- **नक्तं जातस्य औषधे रामे कृष्णे पलक्नि च।**

(अथर्व० १।२३।१)

३- सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ।
(ऋग्वेद १०।३।३ साम० १५।२।३)

४- नास्य राम उच्छिष्टं पिबेत्० (तै० आ० ५।८।१३)

५- अधो रामः सावित्र्य० । (शु०यजु०माध्य० २९।५९)

इन सभी वैदिक मन्त्रों में राम शब्द का प्रयोग किया गया है । और इनके अर्थोंमें अर्चा अवतार की चर्चा है । उसी के अनुसार पूजन अर्चन वन्दन भी अनादि काल से होता चला आ रहा है । पर इन मन्त्रों का तात्पर्य सभी लोग समझ लें यह कठिन है । वेदों में भक्ति की भी चर्चा की गयी है। वेदों की भाषा समझने के लिए आचार्य एवं निरुक्त आदि की आवश्यकता होती है । वैसे वैदिक भाषा का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता हैं।

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देवतातये रामो दानाय चोदय ।।

अर्थात् हे परमेश्वर! आप अग्नि समान तेजस्वी उपासकों द्वारा हमारे ज्ञान एवं ज्ञान के उपकरणों की बृद्धि करें । और देव परमेश्वर के भक्तों को देने के लिए सत्य, सदाचार, और ज्ञान आदि की प्रेरणा करें । यहाँ **देवतातये**—देवाय । सर्वदेवात्तातिल (पा० ४।४।१४३) सूत्र से तातिल प्रत्यय होता है । **देवाय** का अर्थ भगवद्भक्ताय **एकवचनमनपेक्षितम् भक्तेभ्यः इत्यर्थः** यह प्रार्थना सशरीर परमेश्वरसे ही किया जा रहा है। अतः सशरीर भगवान्से प्रार्थना पूर्वक याजक यही याचना करता

है कि हे प्रभो ! मुझमें वह सामर्थ्य हो कि जिससे भगवद् भक्त मेरे समीप से निराश होकर कभी भी न जायें। वह परमेश्वर अपनी शक्ति से सब कुछ करने में समर्थ है। वह ब्रह्मा, विष्णु आदि की कभी सहायता नहीं लेता। संसार के सभी पदार्थों का प्रकाशक भी वही है तथा बहुत अच्छी तरहसे सबका पालक है। वह परम तेजस्वी, शूर सनातन है। जो वह जानता है सब सत्य है। असत्य कभी भी किसी कालमें नहीं होता। वह हमारे पास आवें और हम पर कृपा करें।

अब यहाँ विचार करना यह है कि वही परब्रह्म परमात्मा का ही आना जाना है किसी दूसरे का नहीं। वह हम पर अवि-रल कृपा करके आता भी है और जाता भी है तब वह हमसे दूर कैसे रह सकता है।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथी ऋतस्य बृहतो बभूथ।

हे परमेश्वर ! हमारी अहंकाररहित सभी अभिलाषाओं को सिद्ध करने वाले और हमारे मंगल हेतु भक्ति यज्ञ के नेता अभी आप बन जायें। यहाँ इस मन्त्र में भी उसी परब्रह्म से भक्ति यज्ञ के नेता के रूपमें भक्त याचना करता है। प्रभो ! आपकी कृपा मेरे ऊपर हो। हम श्रेय की ओर जायँ।

अतः वेदों में सगुण साकार परमात्मा एवं भक्ति की पूर्ण चर्चा प्राप्त होती है जिसमें अनेक उदहारण प्रस्तुत किये गये हैं। जिन लोगोंने यह कहने का दुःसाहस किया है कि वेदों में राम कहाँ हैं, उनके लिए ही यह दिखाना भी है कि वेदोंमें

रामजी हैं। मात्र हम वेदों का अध्ययन, पठन–पाठन गौण कर देने के कारण उनका दर्शन नहीं कर पाते। वेदोंमें पूरा श्रीराम चरित्र ही अनुस्यूत है और सगुण साकार रूपमें उनका चित्रण किया गया है। अनेक विद्वानोंने इसका प्रतिपादन भी किया है।

वेदोंमें सत्य, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति, शरणागति, सगुण साकार ईश्वर, परमेश्वर, भक्ति, भगवान् सबकी चर्चा पूर्ण रूपसे विद्यमान है। केवल हम लोग अध्ययन अध्यापन में पंगु होने के कारण आज वेदों के तात्पर्य को नहीं समझ पा रहे हैं।

वेदों में शरणागति— शरणागति एवं वन्दना वेदों में विद्यमान है। "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" यास्काचार्य की इस पंक्ति के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण वेद है। ऋग्वेद के चौथे मण्डलमें "**अर्वाची सुभगे भव सीते**" श्रीजानकीजी की शरणागति कही गयी है और सीताजी की अनुकूलता के लिए अनुग्रह की याचनाकी गयी है। इसी मण्डलमें आगे के मन्त्र ' **चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादाः**"में भगवान्के अनन्य शरणागत के द्वारा समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति कही गयी है। "**वृषभो रोरवीति**" इस मन्त्रमें भगवान् को वृषभ कहा गया है। वृषभ का अर्थ कामनाओं की वर्षा करने वाला कहा गया है। **कामान् वर्षतीति वृषभः**। आश्रितों के प्रति सभी कामनाओं की वर्षा करने के कारण भगवान् को वृषभ कहा गया है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डलमें "**सनायवो नमसा**' इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने भी शरणागत की महिमा स्वीकार की है।

सनायवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयोदस्म दद्रुः ।
पतिं न पत्नीरुशती रुशन्त स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः ।।

हे ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभो ! आप उसी प्रकार से हमारे स्तुत्य हैं जिस प्रकार पत्नी के लिए पति स्तुत्य होता है। पति स्वरूप परमेश्वर भगवान्में जीव मात्रके पति सम्बन्ध की मधुर कल्पना इस मन्त्रमें कही गयी है ।

सायण भाष्य के अनुसार सुन्दरी स्त्री अपने पति की स्तुति करती है । उसी मधुर कल्पना के द्वारा शरणागति कही गयी है। शरणागतिमें आत्म-सर्मपण ही होता है । उसी के द्वारा साधक में विश्वास और दृढ़ता आती है। प्रायः पति-पत्नी भाव में आत्म समर्पण होता है । अतः उसी का उदाहरण प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है । लक्ष्मणजी श्रीराम राघवेन्द्र में पिता, माता, बन्धु सभी का सम्बन्ध एक साथ ही करते हैं ।

अतः वैदिक मन्त्रमें विशेषकर सायण भाष्यमें भी अवतार एवं शरणागतिपरक मन्त्र अधिक दर्शनीय हैं। भगवान्के शरण में जानेसे ही जीव की मुक्ति होती है, इसका वर्णन वेदोंमें बड़े ही समारोह के साथ किया गया है ।

उसके अनुसार ईशावास्योपनिषद् के अन्तिम मन्त्रमें शरणागति की पूर्ण चर्चा की गयी है । **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम । (ईश० १८)**

इस मन्त्रमें सर्वसाधनहीन जीव भगवान् को मात्र नमस्कार करता है एवं परमार्थ सिद्धि की याचना करता है । हे प्रकाश स्वरूप अग्निदेव ! **अग्रे नयनीति अग्निः** आश्रितों को

ऊर्ध्व लोक पहुँचाने वाले प्रभो ! हम भक्तों को अच्छे मार्ग से अपनी नित्यसेवाके लिए यहाँ से ले चलें । हम में जो पाप पुण्य हैं उनका वारण करने वाले मात्र आप हैं । क्योंकि इन पाप पुण्य का निर्णय हम करनेमें सक्षम नहीं हैं । इसके निर्णायक आप ही हैं । हे देव ! आप सर्वज्ञ हैं और आपसे जगतमें कुछ भी छिपा नहीं है । हम सभी प्रकारसे साधनहीन हैं तथा कर्म, ज्ञान, उपासना से भी सर्वथा हीन हैं । हम तो मात्र आपके शरणागत वत्सल श्रीचरणोंमें नमन और अपने आपको समर्पण करते हैं । **"नम उक्ति विधेम"**

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

(श्वे० ६)

अर्थात् जो ब्रह्माको उत्पन्न करके वेदोंका उपदेश दिया । समग्र मन बुद्धि आदि सभी इन्द्रियों के प्रकाशक उन परमात्मा की शरणमें मोक्ष की प्राप्ति की इच्छासे हम जाते हैं । सांसरिक विषयों से विरक्त होकर प्रभु के पावन पादारविन्द एक मात्र उपाय शरणागति ही है ।

'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' मुमुक्षु होकर भी प्रभु की शरण में जाना आवश्यक है, इस मन्त्र का यही तात्पर्य है । बुभुक्षु के बाद मुमुक्षु तथा मुक्त के भेदसे जीव तीन प्रकार के होते हैं । मात्र भोगेच्छा बुभुक्षा, मोक्षेच्छा= मुमुक्षु । परन्तु मुक्ति भगवत् कृपा के बिना होना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि भगवत् कृपा स्व-

रूपा भक्ति अथवा शरणागति वाला ही माया से मुक्त होता है। ज्ञान तथा वैराग्य से सम्पन्न मुमुक्षु जीव जब **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"** भगवान् की दुर्गम माया के बल से पराजित होने लगता है, तभी प्रायः प्रभु की शरणागति करता है और जब भगवत्शरण प्राप्त कर लेता है तो वह पूर्ण निर्भय हो जाता है। भगवान्से रक्षित भक्त निर्भय होकर संसार में विचरता है उसको कहीं भी भय नहीं रह जाता है।

शरणागतों को सर्वस्वभूत तत्त्व त्रय का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। **'त्वयाभिगुप्ताः विचरन्ति निर्भयाः'**(भागवत,) उपनिषद् में तीन तत्वों को ब्रह्म कहा गया है। क्षरणशील परिणामी प्रकृति (माया) और अमृत स्वरूप कर्मानुसार विविध फलों का भोक्ता जीव दोनों पर शासन करने वाला परमात्मा इन तत्वों का पूर्ण परिज्ञान होने पर परमात्मा की माया की निवृत्ति हो जाती है। इसी विषय का उपनिषद्में प्रतिपादन किया गया है। **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्** ।। (श्वेत० १।१२) भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति एवं इन दोनों के प्रेरक परमात्मा ये तीनों ब्रह्म हैं। ब्रह्म की तरह ये तीनों तत्व जानने के योग्य है। इस प्रकार शरणागति तो सगुण साकार की ही होती है। उसी के द्वारा जीव निर्भय बनता है क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मेरी रक्षातो अब प्रभु स्वयं करेंगे।

अतः श्रुति कहती है कि **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वामिति** ।। (मु० ३।३)

वह परमात्मा बहुत प्रवचन, श्रवण मनन से नहीं, साधना द्वारा ही प्राप्य है। अपनी पूजा से ही किसी बड़भागी जीव को स्वीकार कर लेता है, तब अपनी विग्रह को भी उस भक्त को प्रदान कर देता है। यहाँ प्रवचन का भी तात्पर्य मनन ही है। और बुद्धि का अर्थ निदिध्यासन है। श्रवण भी आवश्यक है।

आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चः। श्रवण,मनन, निदिध्यासन के द्वारा भगवत् साक्षात्कार होता है।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' इस मुण्डक श्रुति श्रवणसे आत्म-साक्षात्कार असम्भव है,यह प्रतिपादन करती है और वृहदारण्यक में श्रवण मनन से आत्म साक्षात्कार का विधान करती है। इन दोनों श्रुतियों का सामञ्जस्य आवश्यक है। वृहदारण्यक श्रुति का तात्पर्य है आचार्य के आश्रय के बिना श्रवण से सिद्धि नहीं मिलती। **"प्राप्यवरान्निबोधत"** आचार्य के शरण में जाना अत्यन्त आवश्यक है। बिना आचार्यके तत्व बोध नहीं हो सकता।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः॥

श्रुति के द्वारा श्रवण और उनकी उक्तियों से मनन, तत्-पश्चात ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार शरणागति के द्वारा ही श्रवण मनन आदि सिद्ध हो पाते हैं।
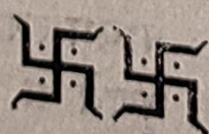
वेद द्वारा ब्रह्म स्तुति

**बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठमहिष्ठस्य प्रभृस्यस्वधावः ।
पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति वन्दासस्ते तन्वं वन्दे अग्रे ।।**

ऋग्वेद १।१४७।२, शु० य० १२।४२। तै० सं० ४।२।३४

पदार्थ–हे, सदैव युवा रहने वाले भगवन् ! मे = मेरे, अस्य = इस महिण्ठस्य = पूजनीय, प्रभृस्य = सुन्दर प्रकार से सुसज्जित स्तोत्र को, बोधा = श्रवण करें । स्वधाव := हे सुन्दर प्रकारसे धारण करनेवाले परमेश्वर ! त्वः = कोईतो, पीयते = आपकी निन्दा करता है। त्वः = और कोई, अनुगृणाति = आपकी स्तुति करता है। अग्ने ! = हे प्रकाशरूप प्रभो ! ते वन्दासः = हम वेद तो आपकी स्तुति या प्रार्थना ही करने वाले हैं। अतः ते = आपकी, तन्वं = मूर्ति को आ = सब प्रकार से विधिपूर्वक, वन्दे = वन्दना करते हैं।

यहाँ इस मन्त्र की व्याख्या में दयानन्द स्वामी जो मूर्ति को नहीं मानते वे भी अपनी पुस्तक में (शरीरम् अभिवादये) शरीर की वन्दना करता हूँ। यहाँ वेद के शरीर की वन्दना की गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद भी शरीर हैं। जिस प्रकार से श्रीवैष्णवाचार्यों के यहाँ अर्चा विग्रह की पूजा होती है, उसी प्रकार से किया जा सकता है।

वेद मन्त्रों को जो नहीं जानते या महापुरुषों द्वारा श्रवण चिन्तन भी नहीं किये हैं, वे कहते हैं कि मूर्ति पूजा वेदों में है ही नहीं। ऐसी बातें नहीं है। वेदों में मूर्ति पूजा पूर्णरूप से विद्यमान है।

आचार्यों द्वारा तत्वत्रय निरूपण :-

ज्ञानाश्रय :—ज्ञान जो कि स्व सत्ता मात्र से स्व और पर इत्यादि व्यवहार का कारण रूप आत्मधर्म है— का आश्रय है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि आत्मा और ज्ञान दोनों द्रव्य माने गये हैं। तब दोनों का आश्रयाश्रयी भाव किस प्रकार से संगत हो सकता है। जो यह समझते हैं कि द्रव्य और गुण इन दो का ही आश्रयाश्रयी भाव होता है पर ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार दीपक और प्रभा दोनों ही तेजोद्रव्य है, तो भी दीप को प्रभा का आश्रय स्वीकार किया है। उसी प्रकार से यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, तो भी स्वधर्म भूत ज्ञान का आश्रय अर्थात् इसमें श्रुतियाँ प्रमाणहैं। **'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा"**

"मलसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते"

'न पश्यो मृत्युं पश्यति"

'विज्ञातारमेकेन विजानीयाज्जानात्येवायं पुरुषः"

"एष हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, बोद्धा, कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः"

'एवमेवास्यपरिद्रष्टः"

प्रश्न—यदि आत्मा को ज्ञान न माने तो क्या क्षति है !

उत्तर—आत्मा मात्र ज्ञान मानोगे तो 'अहं ज्ञानम्' मैं ज्ञान हूँ। ऐसी प्रतीति तो होगी परन्तु **'अहं जानामि'** मैं जानता हूँ ऐसी प्रसिद्ध प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि स्वरूप के अनुसार ही प्रतीति

होनी चाहिए। **अहं जानामि** यह प्रतीति तो होती है। **अहं ज्ञानं** की प्रतीति नहीं होती। अतः आत्मा केवल ज्ञान नहीं माना जा सकता।

पूर्वपक्ष—यदि वास्तवमें आत्मा ज्ञानाश्रय है तो श्रुतियों में '**यो विज्ञाने तिष्ठन्**' '**विज्ञानमयः**' 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि श्रुतियों में उसका ज्ञान रूपमें निर्देश क्यों किया गया है ?

उत्तर पक्ष—तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशप्राज्ञवत् (ब्रह्मसूत्र) ब्रह्म ज्ञान का प्रधान गुण है। अतः वह ज्ञान शब्दसे भी अभिहित है। वस्तुतः है वह ज्ञानाश्रय ही।

अजडम्—आत्मा अजड भी है। स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसके प्रकाशके लिए किसी सहयोगी की अपेक्षा नहीं है। इनमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं। "**अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति**" "**कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिःपुरुषः**" श्रुतियों का यह उद्घोष है।

आत्मा अणु है—अर्थात् अणुपरिमाण वाला भी है। जीव का जिस देश में जन्म हुआ है, उससे भिन्न देश में ही उसकी भोग सामग्री उत्पन्न है। उस भोग्य वस्तु की उत्पत्ति में जीव का अदृष्ट ही कारण है। कार्य कारण तो एकाधिकरणमें रहते हैं, यह सार्वत्रिक नियम है। ऐसा नहीं देखा जाता कि बीज क्षेत्रमें बोया जाय, कार्यफल कहीं नदी, पहाड़ आदि में उत्पन्न हो। यदि यह मान लिया जाय तो वह अल्पदेशीय हो जायेगा। अन्य देशमें नहीं रह पायेगा। जहाँ भोग्य वस्तु विद्यमान है।

जब वह नहीं रहेगा तो कारण अदृष्ट भी वहाँ नहीं रहेगा। क्योंकि वह आश्रय रहित नहीं रह सकता। अतः आत्मा को व्यापक मानना चाहिए। ऐसा मानने पर वह सार्वत्रिक हो सकेगा। उसमें अदृष्ट भी रहेगा और कारण अदृष्ट की सन्निधि में कार्य भोग्य वस्तु की उत्पत्तिमें कोई अवरोध नहीं रह सकेगा।

अतः आत्मा को अणु मानने पर देशान्तर में वस्तु की उत्पत्ति में बाधा नहीं रहेगी। एक देश स्थित अणु अपना भी अपने धर्मभूत ज्ञान द्वारा सर्वविषय का अनुभव करता है।

"**'प्रज्ञया घ्राणं समारुह्य गन्धानाप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यति।**

श्वेताश्वतर उपनिषद्में "**सचानन्त्याय कल्पते**" आनन्त्य और गन्तव्य भी धर्मभूत ज्ञान की व्याप्ति के कारण कहा गया है। यदि आत्मा को विभु माने तो शास्त्रोंमें आत्मा की उत्क्रान्ति, गति और आगति कही गयी है। वह नितान्त असम्भव हो जाती है। **तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। 'यं वै के चास्माँल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।'' 'तस्माल्लोकात्पुन०।''** इन तीन श्रुतियों में क्रमसे निष्क्रमण, गमन, आगमन का वर्णन ये तीनों बातें विभु में नहीं घट सकतीं। विभु उसको कहते हैं जो सर्वत्र हो। जो सर्वत्र रहेगा वह कहाँ से कब निकलेगा और कहाँ कैसे जायगा। अतः शास्त्ररक्षाके लिए अणु मानना ही उचित है।

महेश्वरस्य धार्यम्— यह आत्मा ईश्वर का धार्य है। जिसे धारण किया जाय उसे धार्य कहा जाता है। वह धार्य

इसलिए है कि ईश्वरके स्वरूप और संकल्प के अभावमें आत्मा की सत्ता हानि के सम्भव की योग्यता है। ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थों को स्वरूप संकल्प से धारण करता है। अतः सम्पूर्ण पदार्थ भगवत् स्वरूप तथा भगवदिच्छा के आश्रित है। जैसे लोक में दिखाई पड़ता है—शरीर शरीरी के स्वरूपके आश्रित हैं। उसके संकल्प के भी आश्रित हैं। जब तक शरीरी आत्मा में रहताहै तब तक शरीर की भी स्थिति रहती है। शरीर के रक्षणादि संकल्पों द्वारा भी आत्मा शरीर को धारण करता है। ईश्वर भी अपनी स्वरूप सत्ता और संकल्प सत्ता से सभी पदार्थों को धारण करता है। **'एष सेतुविधरणः तत्सर्वं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' एवमेव चास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानः समर्पिताः 'एतस्य वा अक्षरस्य शासने गार्गि सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'** इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रतिपादन करती हैं।

पूर्वपक्ष—आत्मा का सम्पूर्ण व्यापार ईश्वर की बुद्धि के अधीन है। जैसे शरीर की निखिल प्रवृतियाँ शरीरी आत्मा के आधीन रहती है, उसी प्रकार ईश्वर के शरीरभूत आत्मा की सम्पूर्ण प्रवृतियाँ शरीरी ईश्वर के आधीन रहती हैं।

यदि आत्माका सम्पूर्ण व्यापार ईश्वराधीन है तो कर्तृत्व रूप व्यापार भी ईश्वराधीन ही हुआ। अतः स्वतः सिद्ध है कि ईश्वर की अनुमति के बिना जीव कुछ भी नहीं कर सकता तो आत्मा के लिए विधि और निषेध सब व्यर्थ है। ज्ञान चेतन का स्वाभाविक धर्म है। अतः सामान्य रूपसे प्रवृत्ति और निवृति

की योग्यता तो उसमें अवश्य ही विद्यमान है। पूर्व संस्कारों की अपेक्षा जीव अमुक पदार्थों में प्रवृत्त अथवा उससे निवृत्त होता है। ईश्वर मध्यस्थ होकर पूर्ववासनानुगुण विहित अथवा निषिद्ध की प्रवृत्ति अनुचित और अनादर उत्पन्न कराकर चेतनों को सुख दुःख रूप फल देता है।

प्रश्न—'**एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य-उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषति**'। इस श्रुति के अनुसार उन्नयन और अधोनयन में परमात्मा का स्वातन्त्र्य है। अपनी स्वतन्त्रता से जीवों को पाप अथवा पुण्य कर्म में प्रवृत्त कराकर पुनः उनको दण्ड और अनुग्रह करना सर्वथा ईश्वर का अन्याय है।

उत्तर—यह श्रुति साधारण न होकर विशेष विषयक है अतः इसका तात्पर्य है कि जो जीव भगवान् की आज्ञाओं का सर्वथा पालन करता हुआ पुण्य कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे भगवान् उसी अनुकूल मार्गमें प्रेरित करके ले जाते हैं और जो भगवदाज्ञाविरुद्ध कार्य करता है उसे उसी प्रतिकूल मार्ग में ले जाते हैं। गीता आदि का तात्पर्य भी यही है।

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानामासुरीऽवेव योनिषु।

इन पक्तियों का यही तात्पर्य है। गीता की पंक्ति इसी का अनुमोदन करती है। जीव ईश्वर का नियाम्य है।

'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्य-मृतः' ये श्रुति प्रमाण हैं।

वह आत्मा ईश्वर का शेष है। यथेष्ट विनियोग के योग्य को शेष कहते हैं। आत्मा जैसे चाहे जीव का उपयोग कर सकता है। जैसे चन्दन पुष्प, ताम्बूल आदि अपने चाहे उपयोग न हो पर दूसरों के लिए होता है। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वरूप स्वभाव आदि का वस्तुओं से शेषी ईश्वर के अतिशय का प्रयोजक होता है।

परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते। दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः।। स्वोजीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि। आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर।।

जीव को ईश्वर का धार्य नियाम्य और शेष प्रतिपादन करने से उसे ईश्वर का शरीर प्रतिपादन किया गया है। **यस्यात्मा शरीरम्, स्यादक्षरं शरीरम्** आदि। अतः आत्मा अचिन्त्य है। इन सभी तर्कों के बाद निर्णय यही होता है कि यह आत्मा सुख स्वरूप है,अनुकूल का नाम सुख और प्रतिकूलका नाम दुखहै। आत्मा स्वयं स्व के अनुकूल है, अतः सुख स्वरूप है। **सुखमह-मवाप्सम्**, मैं सुख से सोया यह प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाण है। यहाँ सुखके क्रिया विशेषण से ज्ञात हो जाता है वह आत्मा सुख का बोधक है। इस विषय में **नानानन्दमयस्त्वात्मा ज्ञानन्दै-कलक्षणम्** यह शास्त्र प्रमाण है।
आत्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है।

अपप्रतीकं किल निर्विकारं, कर्तृत्व भोक्तृत्व युग्मस्वरूपम् ।
नित्यं तथाऽव्यक्तमपीह रूपं, वदन्ति जीवस्य बुधां वरेण्यः ।।

विद्वान् निरवयव निर्विकार कर्तृत्वाश्रय भोक्तृत्वाश्रय नित्य और अव्यक्त को भी आत्मा कहते हैं।

अपप्रतीकम् अर्थात् **'विज्ञानमयो विज्ञानं यज्ञं तनुते' कर्माणि तनुते'** यह श्रुति युक्त प्रकार से ज्ञानैकाश्रय होने के कारण अचित् जड़ वस्तुओं के समान आत्मा अवयव संधात्मक नहीं है।

निर्विकारम्— 'अमृताक्षरम् हरः' 'आत्मा शुद्धो अक्षरः' इत्यादि प्रमाणों से आत्मा अक्षर शब्द वाच्य होने के कारण क्षरण स्वभाव वाले क्षर शब्द वाच्य अचित् वस्तु के समान विविध विकार को न प्राप्त होकर सदा एक रूप से रहने वाला है। अतः गीता में भगवान् **'अविकार्योऽयमुच्यते'** कहा है ।

वह आत्मा कर्त्ता और भोक्ता भी है :—यह कपिल मत वाले मानते हैं। कठवल्ली के **न जायते म्रियते वा कदाचित्** वचन से आत्मा के जन्म मरणादि का निषेध किया गया है। **हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते इमम् उभौ तौ न विजानीतौ नाऽयं हन्ति न हन्यते ।।** इस मन्त्र में हन्य क्रिया का भी कर्तृत्व निषेध किया गया है। यहाँ आत्मा को कर्त्ता को केवल भोक्तृत्व मानना चाहिए ।

पर यह विचार इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन को कर्तृत्व स्वीकार करने पर तो चेतन को लक्ष्य करके **स्वर्ग कामो यजेत** 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' विधि असम्भव हो जायेंगे । क्योंकि

शास्त्र का अर्थ शासन है। शासना का अर्थ प्रवर्तना है। वह प्रवं-तना बोधोत्पादन द्वारा ही सम्भव है। अचेतन प्रकृति को बोध उत्पन्न कराना नितान्त असम्भव है। अतः शास्त्रों में वैयर्थ्य रूप दोष से भोक्ता जो चेतन है उसको कर्तृत्व भी स्वीकार करना चाहिए। पर यदि कर्त्री प्रकृति हो तो **'अन्येन भुक्तं अन्येन वान्तम्**, दूसरे ने खाया, दूसरे ने वमन किया-न्याय का प्रसंग हो जायेगा।

आत्मा सार्वकालिक है :—उसका किसी भी काल में विनाश नहीं होता। **'नित्यो नित्यानाम्, न जायते म्रियते वा कदाचित्** गीता प्रमाण है।

इसका उत्तर यह है कि जन्म का अर्थ अभाव से भाव और मरण का अर्थ भाव से अभाव होना नहीं है किन्तु आत्मा का जन्म एवं देह सम्बन्ध आत्मा का मरण अर्थात् देह वियोग इतना ही अर्थ है। अतः उपर्युक्त श्रुतियों से कोई विरोध नहीं है।

आगे कहते हैं, आत्मा को यदि नित्य माना जाय तो सृष्टि से प्रथम एकत्वाधारण किस प्रकार होगा। नाम और रूप के वियोग न होने को ही हम एकत्व कहते हैं, जो अक्षर है। सृष्टि से प्रथम नाम रूप का अभाव ही रहता है। सृष्टि होने के बाद आत्मा के साथ नाम रूप जुड़ता है। अतः एकत्वाधारण में कोई बाधा नहीं है।

अतः आत्मा अव्यक्त कहा जाता है :—जैसे चक्षुरादि इन्द्रियों से घट पटादि का ग्रहण होता है। क्षण भङ्गुर घट पटादि

वस्तुओं का जिन प्रमाणों से ग्रहण होता है उस प्रकार आत्मा का ग्रहण न होने के कारण वह अव्यक्त कहा जाता है। अतः आत्मा केवल मानसज्ञान गम्य है । ऐन्द्रिय ज्ञान से गम्य नहीं है। जो लोग मन को इन्द्रिय मानते हैं उनका सार्वभौमिक सिद्धांत एवं मान्यता नहीं है।

आत्मा के प्रकार का वर्णन :-

बद्धाश्च ते केचन कर्मतन्त्रैः, मुक्ताश्च ते केचन कर्मतन्त्रात्। नित्याश्च तेषामत्र सन्ति केचिदित्येवमाहुः किल तत्प्रकारम् ॥

शास्त्रों में जीव तीन प्रकार से वर्णित हैं। कतिपय जीव कर्म बन्धनों से बँधे हुए हैं। कतिपय जीव ऐसे हैं जो नित्य हैं।

बद्धः—जिस प्रकार से तिल में तैल, काष्ठ में अग्नि तिरोहित रहता है उसी प्रकार भगवान् की माया से स्वरूप को न पहचानने वाले अनादि अविद्या से सञ्चित अनन्त पुण्य और पाप कर्मों से घिरे हुए स्वकर्मों के अनुसार नाना प्रकार के देव, मनुष्य और तिर्यंग् आदि अनेक देह सम्बन्धी पदार्थों में ममताबुद्धि को धारण किये हुए दुर्वासनाधीन होकर अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करने वाले चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड में निवास करने वाले ब्रह्मा, रुद्र, सनकादि योगी, नारदादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, पुलस्त्य मरीचि दहत आदि नव प्रजापति देवता, दिक्पाल रुद्र, मनु, असुर, पितर, सिद्ध, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, विद्याधर, वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, वदानक्त, यक्ष, राक्षस, पिशाच, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीटादि

भेद वाले तिर्यक्, वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तृणादि भेद वाले स्थावर आदि बद्ध जीव कहे जाते हैं ।

इनमें भी जरायुज अण्डज उद्‌भिज्ज और स्वेतदज ये चार भेद हैं । देवता और मानव जरायु से उत्पन्न हैं, अतः इनको जरायुज कहा जाता है । परन्तु ब्रह्मा रुद्रादि, सनकादि और द्रौपदी अयोनिज हैं । तिर्यगादि जरायुज भी होते हैं और स्वेदज अण्डज भी होते हैं । स्थावरादि उद्भिज्ज कहे जाते हैं । भूमि आदि फोड़कर जो निकले उसे उद्भिज्ज कहते हैं ।

बद्ध जीव दो प्रकार के हैं— शास्त्रवश्य और शास्त्रावस्य । जो शास्त्र की आज्ञा के अधीन होकर समस्त व्यवहार करते हैं उनको शास्त्रवश्य कहा जाता है और जो शास्त्र की अधीनता स्वीकार नहीं करते हैं उनके लिए शास्त्र है ही नहीं, उन्हें शास्त्रावश्य कहते हैं ।

शास्त्रवश्य दो प्रकार के होते हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु । जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें से मोक्षातिरिक्त तीन में निष्ठा रखने वाले हैं, उन्हें बुभुक्षु कहते हैं । वे भी दो प्रकार के है । अर्थकाम परायण तथा धर्मपरायण । धर्मपरायण के भी दो भेद हैं । देवतान्तर परायण और भगवत्परायण । देवतान्तर परायण ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र, अग्नि देवी इत्यादि के उपासक होते हैं । भगवत्परायण एक मात्र श्रीरामचन्द्र अथवा नृसिंह, वामन, श्रीकृष्णादि विभूतियों के उपासक होते हैं ।

मुमुक्षु के भी दो प्रकार हैं—कैवल्य परायण और मोक्ष परायण। प्रकृति से पृथक् होकर स्वात्म अनुभव करने का नाम कैवल्य है। अतः स्वात्मा का अनुभव करने वाले को कैवल्य परायण कहते हैं। मोक्ष परायणके दो भेद हैं, भक्त और प्रपन्न। भगवत् प्रतिपादक शास्त्रोंके श्रवणादिसे चिदचिद्विलक्षण अनवधिकातिशयानन्द स्वरूप निखिल हेयप्रत्यनीक समस्त कल्याण-गुणाकर परब्रह्म भगवान् श्रीरामजी का निश्चय करके उनकी प्राप्ति की उपायभूत साङ्गभक्ति से जो मुक्ति की इच्छा रखते हैं, उन्हें भक्त कहते हैं। जो अकिञ्चन और अनन्यगतिक होकर भगवान् के शरणमें जाते हैं उन्हें प्रपन्न कहते हैं।

प्रपन्न के भी दो भेद हैं— त्रैवर्गिकपर और मोक्षपर। जो भगवान्से ही धर्म, अर्थ और काम की इच्छा रखता है उसे त्रैवर्गिक पर कहते हैं। जो सत्संग द्वारा नित्यानित्य के विवेक से निर्विण्ण होकर मोक्ष प्राप्तिके लिए किसी वेद शास्त्र सम्पन्न आचार्य के शरण में जाकर पुरुषकारभूत श्रीजगज्जननी सीताजी को प्राप्त कर भक्त्यादि अन्य उपायों के करने में असमर्थ होकर भगवान् श्रीराम के चरणकमलों में ही अपने को समर्पण कर देता है उसे मोक्षपर कहते हैं। वेदों में रहस्य रूपसे इसका वर्णन एवं शरणागति का वर्णन किया गया है, जो पहले ही कह दिया गया है।

"न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति" (बृहद्० ४।४।६)
"अत्रैव समवलीयन्ते" (बृहद्० ३।२।११)

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (वृहद्० ४।४।६)

उस परब्रह्म का शरणागति होने के बाद उसी का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। जिसको सगुण परमात्मा का साक्षात्कार हो गया है, ऐसा भक्त उपर्युक्त मार्ग से भगवान् के धाम को जाता है' यह श्रुति भी प्रतिपादन करती है। अन्तर्यामी व्यापक स्वरूप ही देह में रहता है, अतः गीतामें **'अत्र देहे'** इस देह में भगवान् ने स्वयं कहा है। अधियज्ञ भगवान् अपने को ही कहे और बाद में इस देह में कहकर सगुण साकार का ही प्रतिपादन किया है। भेदोपासना, अभेदोपासना दोनों का वर्णन किया गया है। वेदों में भी सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी कुछ है। फिर भी जो उपासक उस परब्रह्म परमात्मा को जैसा मानता है वह वेसा ही है। उसी के अनुसार ईश्वर परिणत होता है। उसका भी निर्देश वेदोंमें किया गया है। जो सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं उनके लिए वह वही है। जो निर्गुण निराकार मानते हैं उनके लिए वह वही हैं।

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमाण्वेव विजिज्ञासितव्यः । (छान्दोग्य० ७।२३।१)

जो भूमा है वही सुख है। अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है और जो भूमा है वही परब्रह्म परमात्मा है। उसी की जिज्ञासा जीवनसें होनी चाहिए। उसी के द्वारा जीवन का द्वन्द्वमिट पायेगा।

भूमा क्या है ? उसी को श्रुति कहती है—**यत्र नान्यत्**

पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अन्य यत्रान्य-त्पश्यत्यन्यच्छृणोति ।

"**देवानां नामधा एक एव**" देवों का जो नाम है, वह एक ही है । एक नाम में ही समाविष्ट होता हैं । यहाँ श्रीजी का सर्वदेववाचक शब्दों से अभिधान किया गया है । श्रीराम-परत्व का वर्णन करनेमें एक शब्दकी अनेकार्थता सिद्ध होती है।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितः ।

[तै० आ० १।२]

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । [तै० ७।३]

तें ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मणः आनन्दः ।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । [तै० २।८]

आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन । [तै० २।९]

अर्थात् वह जीव समस्त अभिलाषाओं का पूर्णफल पर-ब्रह्म के साहचर्य में ही प्राप्त कर भोग लेता है। वह ब्रह्म रस-स्वरूप है। रस का तात्पर्य आस्वादनसे है। रस शब्द **रस शब्दे** धातु से निष्पन्न होता है । "**रस्यते आस्वाद्यते असौ रसः**" जिसका आस्वादन किया जाय, भक्त साधक उस परमात्मा का रसास्वादन अपनी साधना, भजन, पूजन द्वारा सदैव करता है। अतः अपने इह जीवनमें ही लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कर लेता है । उपासना पद्धति ऐसी विचित्र है कि भगवान् अथवा वह परब्रह्म रसमें परिणत होकर भक्तोंके नेत्रों का विषय बन जाता है। वह भक्त फिर भगवान्‌को छोड़कर और कुछ चाहता

ही नहीं है। उस ब्रह्मकी प्राप्ति का तात्पर्य है लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति। उसको प्राप्त होने के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है। प्रजापति का जो सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, उससे सौ गुना आनन्द परब्रह्म का है। वह काम रागादिकों से कभी भी प्रभावित नहीं होता। इस आनन्द की प्राप्ति होनेसे जीव पूर्ण निर्भर हो जाता है। साँसारिक भय उसको नहीं रह जाता।

उस धाममें उसका अभीष्ट प्राप्त होता है। उस काल में वह संसार के सम्बन्ध का स्मरण कभी भी नहीं करता। **स यदि पितृलोक कामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति।** (छान्दोग्य ८।२।१) इस श्रुति वचन के अनुसार उस काल में मुक्तात्मा की कोई इच्छा रह ही नहीं जाती है।

"तत्सुखे सुखित्वम्" उसकी इच्छा रहती है। फिर यदि उसकी इच्छा सेवा या पूजा करने की होती है तो प्रभु उसकी पूर्ति अवश्य कर देते हैं। भक्ति की रुचि पूर्ण करना तो प्रभु की सदा भावना रहती है।

भगवत्संकल्पानुप्राणित संकल्प का स्मरण कराकर प्रभु उसका उद्धार कर देते हैं।

वेद की ऋचायें अवतार परक हैं— वेदों की सम्पूर्ण ऋचायें ईश्वर के महत्व एवं गौरव का गान करती हैं। अतः वेद परमेश्वर के ज्ञान से अनुस्यूत हैं। ईश्वरपरक, आत्म परक, तथा यज्ञपरक सभी मन्त्र वेदों में आये हैं। उपासना काण्ड को मानने वाले सभी सम्प्रदाय के मन्त्र वेदों में पाये

जाते हैं। अवतारों का पूर्ण विवरण वेदों में किया गया है। ब्रह्म के सगुण निर्गुण और अवतारके कार्योंका पूर्ण चित्रण वेद कहा जाता है।

श्रीरामचरित्र तो पूर्ण वैदिक चरित्रहै। क्योंकि महर्षि वाल्मीकि-कृत रामायण में वेद माता गायत्रीके २४ अक्षरों वाले वैदिक मन्त्र ही २४ हजार श्लोक हैं। अतः श्रीरामचरित्र तो साक्षात् वेद व्याख्या ही कहा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। क्योंकि वेद माता गायत्री द्वारा ही श्रीराम चरित्र का स्मरण कराया गया है और भगवान् से बिछुड़े जीवों को सच्चरित्र की ओर आकृष्ट किया गया है। श्रीरामायण तो परात्पर ब्रह्म रामजी का ही स्मरण करती है। श्रीरामजी का अवतार तो वेद मन्त्रों का स्मारक है, जिससे वैदिक चरित्र लोकमें प्रतिष्ठित हो जाय। अतः उस रामायण की व्याख्यामें विशेषतया भक्ति स्वरूपा, शक्ति स्वरूपा सीता के चरित्र की प्रधानता है। अतः स्पष्ट हो गया कि श्रीराम और ब्रह्मगायत्री दोनों एक ही हैं, अन्य नहीं। दोनों वेद स्वरूप हैं। यही महर्षि द्वारा प्रतिज्ञा की गयी है।

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्।
चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
(वा० रा० चतुर्थ सर्ग)

ऋषि शब्द का अर्थ परम ज्ञानी होता है। यहाँ पदमें जो भगवान् अपने लिए प्रयोग किया है, वह उनका लिखा हुआ

नहीं है। उन्होंने श्रीरामचरित्र में इस श्लोक का दर्शन किया है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मा ने स्वयं यह व्यक्त किया है।

अथवा महर्षि के हृदय में जो करुणा थी, भगवान् के प्रति जो भक्ति एवं प्रपत्ति थी वही श्लोकमें परिणत हो गया। क्योंकि "**मा निषाद प्रतिष्ठाम्०**" उच्चारण के पश्चात् महर्षि वाल्मीकिजी को आश्चर्य हुआ कि मैं यह क्या कह गया! इस–पर भविष्य वाणी हुयी कि आपने ठीक कहा है। इसी छन्दमें श्रीराम का चरित्र वर्णन करो। आपको इससे संसार में बड़ा यश मिलेगा। उसी के अनुसार ये २४ हजार श्लोक जो वेदों की व्याख्या है, वह श्लोकबद्ध कर समस्त विश्व को चरित्र, दया, अनुशासन, प्रेम भक्ति प्रपत्ति से आप्यायित कर दिया। इस महाकाव्य रामायण में ५००, (पाँच सौ) सर्ग निबद्ध कर मानों वेदों की व्याख्या ही प्रस्तुत किया है। **वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना॥** (अगस्त्य संहिता)

वेदों के भी वेद्य पर ब्रह्म परमात्मा जब श्रीदशरथ नन्दनके रूपमें अवतार ग्रहण किये तो प्राचेतस् वाल्मीकिजी के मुख्य से रामायण वेद के रूपमें अवतरित हुआ। अब भगवान् शिव पार्वतीजी से कहते हैं–"**तस्माद् रामायणं देवि वेद एव न संशयः**" (अ०सं०) ऋषि मण्डल रामायण को वेद मान कर ही बहुत अधिक सम्मान दिया है।

यद्यपि वेदों में अनेक अवतारों का वर्णन बड़े समारोह के साथ किया है, पर रामावतार को लोक ने विशेष रूप से श्रवण किया है। इसलिए कि यह अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम का पूर्ण अवतार है। धर्म और सत्य के पवित्र आदर्श को मानव-जाति के समक्ष स्थापित करने वाला यह अवतार परात्पर ब्रह्म का अवतार कहा गया है। रामजी की उपासना तो अवतार के पहले लोक में पूर्ण विख्यात थी जिसका उद्गम सगुण ब्रह्म की धारासे था, निर्गुण ब्रह्मके विचारभी जिसमें निहत थे; रामावतार के बाद प्रौढ़ हो गयी।

प्राचीन काल की प्रजा को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि वैदिक ऋचाओं में जिस परमतत्व का ज्ञान होता है, अवतार में आये हुए वही रामजी हैं। संहिता काल के ऋषियों ने वैदिक ब्रह्मतत्व को राम में देखा और सीधा निर्णय दिया। **"राम एव परंब्रह्म"** राम परमात्मा परब्रह्म हैं। उनकी उपासना करो। महर्षि वाल्मीकि ने पितामह ब्रह्मा की आज्ञासे प्रथम शब्द ब्रह्म का इतना सुन्दर चित्रण रामायण में किया कि प्राचीन युगों में रामचरित्र को वेद मान लिया गया।

अतः श्रुति ने ईश्वर को साकार माना है। **"अकायम्"** का प्रयोग ईशोप०, यजु०अ० ४०व ८ में किया गया है, जिसका अर्थ भौतिक शरीर न होकर दिव्य शरीर वाला है, यही हुआ। **अकायम्** के ही मन्त्र में **'शुद्धम्'** का भी प्रयोग हुआ है। उसमें कभी भी बाह्य अशुद्धि नहीं आती है। **'अपापविद्धम्'** उसमें

भी आन्तरिक विचार या पाप से सर्वथा बाहर है। वह भगवान् परम विद्वान भी है। अतः श्रुतिने उनको 'कवि' कहा है। **'मनीषी'** वह मननशील और परम विवेकी हैं। उनमें अन्याय का समावेश ही नहीं है। वह सर्वदा ही सर्वत्र निवास करते हैं। उनका शरीर किसी ने नहीं बनाया। वह 'स्वयम् उनका शरीर नित्य एवं स्वयं सिद्ध है। जब चाहे वह शरीर धारण कर लेते हैं। उनको पञ्चीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। संसार की रचना आदि में कोई विस्मृति हो जाये, ऐसा हो ही नहीं सकता। **'यथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्'** वह भगवान् ही न्यायपूर्वक संपूर्ण पदार्थों का निर्माण करते हैं। ये सभी क्रियायें अनन्तकाल से होती चली आ रही हैं और अनन्तकाल तक होती रहेगी। अतः मूल मंत्र में **"शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"** दिया गया है। जिस प्रकार रात दिन की क्रियायें अनादिकाल से होती चली आ रही हैं और अनादिकाल तक होती रहेंगी। इनका आदि अन्त निर्णय कर सकना अत्यन्त कठिन एवं दुःसाध्य है। अतः स्पष्ट हो गया कि ईश्वर की सभी क्रियायें दिव्यातिदिव्य हैं। सभी अलौकिक हैं। वह भौतिक शरीर वाला नहीं है, न इनके अनुबन्धनों में अनु-बन्धित होता है।

इस प्रकार वेद में भक्ति एवं भगवान की कृपा की याचना जीव बार-२ करता है। सामवेद संहिता में इसकी विशद चर्चा की गयी है।

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतरं मतिम् ।
त्वामर्भस्य हविषः समानमित्वां महो वृणते नान्यं त्वम् ।। (३।७)
(ऋ० १०।९१।८)

इस मन्त्र में 'त्वाम्' का प्रयोग **'मेधाकारं'**-ज्ञान स्वरूपम् अग्निं=प्रकाश स्वरूपम् **'हूयते इति हविरिति, परमात्मनि हूयमानं समर्प्यमाणं मन एवं वाच्यं तथापि मनसा समर्पणेर्भक्तत्वस्य महत्वस्य हविः शब्देनेह मनोर्पणरूपस्य यज्ञस्य ग्रहणम् । यद्यपि मनोर्पण यज्ञेप्यर्भत्व महत्व योनावकाशस्तथापि साधारणा साधारण भक्तियोगमादाय निर्वाहकर्तव्यः ।।** (स्वा सी भगवदाचार्य)

अर्थात् हे परमेश्वर ! ज्ञान स्वरूप ! ज्ञान के प्रधान साधन सर्व व्यापक, सबके दाता, कामादि शत्रुओं का पराभव करने वाले सर्वज्ञ आपका ही आपके उपासक छोटे भक्तियोग में अथवा बड़े भक्तियोग में समानरूप से वरण करते हैं, किसी अन्य का नहीं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मसमर्पण ही भक्ति है । आत्मसमर्पण में अल्पत्व और महत्व की कल्पना नहीं की जा सकती तथापि क्षणिक आत्मसमर्पण और अत्यन्त आत्मसमर्पण की कल्पना में अल्पता और महत्ता का अवकाश हो सकता है । गृहस्थ धर्म में प्रार्थना आदि द्वारा जो **'त्वामेव शरणं प्रपद्ये'** आपकी ही शरण में हूँ, आदि जो कहा जाता है वह आत्मसमर्पण अल्पआत्मसमर्पण कहा जाता है और परम विरक्त महात्माओं द्वारा किया गया आत्मसमर्पण महान् समर्पण कहा जाता है । दोनों ही समर्पणों में हे ईश्वर ! सभी भक्त जन आपको स्वीकार करते हैं, अन्य का नहीं ।

यहाँ इस मन्त्र में सगुण साकार परमात्मा की ही प्रार्थना और शरण ग्रहण करने की बात कही गयी है। आत्मसमर्पण तो उसी के समक्ष किया जाता है, जो समक्ष विद्यमान हो। भक्तिपूर्वक प्रार्थना में सगुणसाकार परमात्मा की स्तुति की गयी है। यहाँ अल्प और अधिक मानने की बात नहीं है, भगवान् की शरणागति लेने की बात है। '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**" थोड़ा सा भी निवेदन भगवान् के समक्ष करने से वे उसको अपनाते ही हैं। यहाँ यही महत्वपूर्ण बात है। जिसकी चर्चा साम संहितामें की गयी है। अतः वेद में भगवान् की शरणागति पूर्ण-रूप से विद्यमान है। यह सगुण परक मन्त्र है।

त्वं सोम परिस्रव स्वादिष्ठो अग्निरोम्यः। वरि वो विद्धृतं पयः। त्वमिन्द्रोपरीत्यृक् (ऋ० ९।६२।९)

अगि गतौ-अङ्गाराये त्वङ्गिरसो भक्ताः। तेभ्यो धृते प्रकाशे ज्ञानरूपं धृ क्षरणदीप्तयोः। पयो भक्ति रसं च पीयते इति पयः। विपतेरि च (उ० ४।१९५) इति **पिबतेस्तुन्। परिस्रवः= परितः स्रवः देहीतिभावः। कीदृशत्वं ! वरिवो धनम्। तत्त्च-ज्ञानादि रूपम्। तस्य लम्भकः प्रापको दाता वा बिदलृ लाभे**
(स्वामी भगवदाचार्यः)

हे परमेश्वर ! आप परम स्वाद वाले ज्ञानादि प्रदाता है। अतः आङ्गिरस, जो आपके भक्त हैं, उनके लिए प्रकाश और भक्ति रस का प्रवाह निरन्तर बनाये रहें। यहाँ त्वं के द्वारा भगवान् से भक्ति की याचना की गयी है। इस मन्त्र के द्वारा

सगुण ईश्वर से ही साधक निवेदन करता है कि प्रभो ! मेरी भक्ति आपमें सदैव बनी रहे। यही मेरी याचना है।

तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो बभ्र ऊधनि ।
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शुकुना इव पप्तिम ।।

सा० वे सं० २।११। (ऋ० ६।।०७।२०।।)

हे समस्त जगत के पोषक परमेश्वर ! अहर्निशि आपकी उपासना करने वाला रात्रि में विशेष रूपसे बल प्राप्त करके आपको पूर्ण मानता हुआ मैं दीप्यमान और भक्तों को प्राप्त होने वाले आपको प्राप्त होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि उपासक उपासना तो रात दिन ही करता है, परन्तु रात्रि में अधिक शान्ति होने के कारण परमात्मा के आनन्द को वह अधिक मात्रा में प्राप्त करता है। उससे वह अपने को सशक्त समर्थ होता हुआ मानता है। अन्त में परमात्मा को प्राप्त ही कर लेता है।

इस मन्त्र में घृणा का अर्थ दीप्त है घृ = क्षरणदीप्तयोः, सूर्यः का अर्थ भक्त होता है **सरति गच्छति भक्तान् इति सूर्यस्तम् सूर्यम्।**

अर्थात्—**भक्तो अहोरात्रं भगवन्तं ध्यायति । परन्तु रात्रावति-शान्तो भवन्नुपास्यस्य आत्मानं प्रतिपत्यहर्दिवम् ।**

'**आ योनिमरुणो**' (ऋ० ६।४०।२) इस मन्त्र में योनि का अर्थ भक्त का मन मन्दिर (योनिगृह नाम) परब्रह्म का स्वरूप-भूत निवास भक्त के हृदय में होता है।

श्रीवशिष्ठजी का उपदेश इस मन्त्र में विद्यमान है। **बोधासु मे मधवन्वाचमिमां यां ते वशिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व** अ० ५ ऋ० ७।२२।३२ इस मन्त्र में ब्रह्म का अर्थ परमात्मा किया गया है। अर्थात् हे भक्तिरूप धनवाले जीव ! तुम्हारे मंगल के लिए मैं वशिष्ठ उपदेश करता हूँ। उसको तुम अच्छी तरह से श्रवण करो, और उसको अपने हृदय में धारण करो। ब्रह्म का ध्यान और पूजन करो। इस मूल मन्त्र में। **'अर्चति'** क्रिया आयी है। अर्च पूजायां धातु है जिसका सीधा अर्थ अर्चा विग्रह की ओर ही प्रेरित करता है। और उस पूजन का विधान भी जीव को स्वयं वशिष्ठ ही बतलाते हैं। क्योंकि गुरु कृपा बिना भगवान् की कृपा भी नहीं मिलती है। ब्रह्म पूजन का विधान श्री वशिष्ठ द्वारा ही निर्देश किया जा रहा है। **ब्रह्म=परमात्मानम् जुषस्व=सेवस्व**। सेवा करने का आदेश यहाँ उपदिष्ट है। **वुद्धा च सधमादे**=अपने हृदय में, सहमाद्यतो का अर्थ ईश्वर और जीव दोनों है।

इस प्रकार वेद भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हैं कि हे प्रभो ! मैं जैसा आपको मानता हूँ उसी प्रकार नाम रूप देकर हम प्रार्थना करते हैं। एक ही भगवान् को इन्द्र के नाम से, अग्नि के नाम से और अनेक देवताओं के नाम से भी वेदों में संबोधित किया गया है।

ऐश्वर्य प्रकाशन के लिए इन्द्र का सम्बोधन एवं व्यापक द्योतन करने के लिए अग्नि का प्रयोजन वेद में सर्वत्र किया गया

है, अतः साधक निवेदन करता है कि हे परमेश्वर मैं जैसा आपको मानता हूँ, उसी प्रकार की प्रार्थना हम करते हैं।

उसी के अनुरूप आप बनते हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा का चलना, उन्नत होना वर्णन किया गया है।

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम् ।।

इस मन्त्र में **'शिप्र'** धातु का प्रयोग है। शिप्र गत्यर्थक धातु है। **सृपृ=गतौ,** उतिष्ठ=का अर्थ उठकर चलना कहा गया है। सोम का अर्थ मधुर शान्त, एवं भक्ति, है। सृप्रः=सर्पणात् यास्कः सुशिप्रमेतेन व्याख्याम् [निघण्टु] ६।१७।

अतः इस मन्त्र का तात्पर्य हुआ कि हे परमेश्वर ! **द्यावा-पृथिवी** के बीच में कहीं भी जब भक्ति रस का आरम्भ होता है तब आप उसका पान करके सबल एवं सशक्त होकर उठते हैं और अपने पाद संचालन करते हैं।

इसका तात्पर्य है कि भक्ति द्वारा परमात्मा प्रसन्न होते हैं। प्रसन्नता का अर्थ सबल या तेज से परिपूर्ण होता है। उसी की कल्पना या दर्शन यहाँ किया गया है।

भक्ति रसारम्भ परमात्मा का आगमन है और भक्तिरस-वर्जन परमेश्वर का गमन है। अतः यह मन्त्र भक्तिरसोत्सव का व्यञ्जक है। परमात्मा उपासना एवं भक्ति से ही पूजन, अर्चन से ही, अपना अतुल तेज प्रकट करते हैं, जिसके द्वारा साधकों, भक्तों, आश्रितों की रक्षा करते हैं। जिसका उदाहरण

रामायण, पुराणों, इतिहासों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वेद मन्त्र द्वारा ही स्पष्ट हो गया कि उसका **चलना, गमन** आदि क्रियायें होती हैं। तब उसकी प्रतिमा पूजन करना, उस सत्य सनातन परमात्मा को सबल और तेज युक्त करना ही है। यद्यपि वेदों में वह अनन्त पाद, अनन्तनेत्र, अनन्त शिरवाला कहा गया है। अतः परम तत्व को सगुण निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार करना पड़ेगा।

निर्गुण तत्व का विवेचन करने वाले दार्शनिकों ने भी जिस रूप में जगत् को माना है उसी स्तर पर जगत् का संचालन करने वाले ईश्वर को भी स्वीकार किया है। सगुण तत्व बुद्धि-गम्य नहीं है, पर भाव के धरातल पर इसका कोई जोड़ भी नहीं है। अधिदेव का साक्षात्कार भाव के द्वारा ही सम्भव है। अतः सगुण के साक्षात्कार साधन भाव, भक्ति, प्रपत्ति, मूलक है। सगुण तत्व सत्यरूप में श्रद्धैकगम्य है।

सभी दर्शन जगत्के निरूपणसे ही चलना प्रारम्भ करते हैं। जगत का द्वैविध्य यह कभी भी नहीं स्वीकार करता कि यह किसी का प्रतिविम्ब है। यदि परमतत्व सच्चिदानन्द न हो तो जड़ प्रकृति में सत्ता, प्रकाश सुख आदि आनन्द कहाँ से आयेगा। वह सत् यहाँ नाम, रूप, लीला, धाम लेकर आता है और तमो-गुण के रूप में सुख, दुःखादि वैर प्रीतिका अनुभव भी वही करता है। चित् क्रिया बनकर रणोगुण के रूप में, और आनन्द सतो-गुण बनकर विषय सुख के रूप दिखाकर संसार का उद्धार भी

वही करता है। अतः उस परमात्मा के ये अनेक नाम, गुण, क्रिया अकारण एवं निर्मूल नहीं हैं। भेद का भी आधार और कारण होता है। अतः सगुण तत्व श्रद्धैकगम्य होने पर ही शास्त्र का भी तात्पर्य लगता है। नहीं तो जंगल में जैसे कोई भूल जाय और मार्ग बताने वाला न मिले तो वह कहाँ चला जायेगा यह कहना कठिन है। उसी प्रकार यह शास्त्र भी एक प्रकार का जंगल है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है।

बहुत ही चतुर साधक इनमें से रत्नों को निकाल पाता है। सभी लोग नहीं निकाल पायेंगे। अतः शास्त्रों का वर्णन गलत नहीं है। उसमें श्रद्धा अच्छी तरह से हो जाय, अच्छी उपासना बन जाय, तभी उनका तात्पर्य भी समझ में आ सकता है। वेदों में वर्णन आया है। उसमें अत्यन्त श्रद्धा की आवश्यकता है। तभी उन मन्त्रों का तात्पर्य हम समझ सकते हैं।

भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से कई स्थानों पर स्वयं अनुग्रह किया है कि सभी उपासना सम्प्रदाय मानते हैं कि भगवान् के रूप नित्य हैं। इसका अर्थ है कि उनके धाम हैं। अतः किसी भी श्रद्धा से परिपूर्ण अथवा भक्ति से परिपूर्ण भाव की परिपुष्टता से भगवद्दर्शन हो सकता है इसलिए अनेक साधक भक्तों ने किया है। उसी भावना के अनुरूप भगवद्दर्शन होता है।

हमारे मन की भावनायें भी अनेक स्तर की होती हैं। उसी के अनुरूप दर्शन भी होता है। भगवान् के जितने रूप पहले से विद्यमान हैं मन मात्र उन्हीं कक्षाओं तक ही भाव तरङ्गों को ग्रहण कर सकता है। ये भाव भूमि भगवद्धामों के आश्रित हैं।

हमारी यही समस्या हैं कि भगवद्धाम कितने और कहाँ २ हैं, यह कह पाना बहुत कठिन है । इसको शास्त्रों ने भी नहीं कह पाया है । हम, देश, काल संख्या, के बाहर जा ही नहीं सकते, सोच ही नहीं सकते । जो देश, काल, संख्या परिमाण से सीमित नहीं, जिनमे देश कालादि स्वयं समाये में हुए हैं, उनको कहाँ, कैसे और कितने वताया जाय ।

फिर भी मुझे यदि वर्णन करना है तो कहना ही पड़ेगा कि भगवान् का प्रत्येक सगुण, साकार स्वरूप और उनका धाम हमारे इस सम्पूर्ण जगत् में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में, इसके अणु-अणु में सर्वत्र सभी समय व्यापक हैं । अतः कभी किसी काल में कहीं किसी स्थान पर, किसी भी साधक भक्त अधिकारी के समक्ष भगवान् का कोई भी श्रीराम कृष्ण आदि रूप लेकर प्रकट हो सकता है और वही अन्य लोगों के लिए अदृश्य रूप में भी रह सकता हैं ।

अतः श्रुति कहती है- **स बाह्याभ्यन्तरः ह्यजः** (मुण्डकोप०) **"प्रणवः ब्रह्माक्षरम्"** प्रणव अक्षर ब्रह्म है । अक्षर रूप को सगुण के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है इसी का नाम श्रीराम, श्री कृष्ण आदि रूप में व्याप्त है जो मानव जाति भर के लिए सद्यः सुलभ हैं । इस नाम रूप में कोई भी प्राणी स्नान, पूजन, दर्शन करके अपने जीवन के ताप को मिटा सकता है । क्योंकि दोनों में प्रणव और 'रां' के अक्षरों में भी साम्य है ।
वं=उ+अ+म्, रं=र+अ+म् में प्रणव विद्यमान है ।

वरणसहितया मेधया तु भगवान् उपलभ्यते ।
वरणसहितेन श्रवणेन तु भगवान् उपलभ्यते ।।

अतः भगवान् ही भगवान् के प्रकाशक हैं । भगवान् का प्रकाशक कोई दूसरा नहीं है । उन्हीं का स्वाध्याय प्रवचन करना चाहिये । वेद का भी यही आदेश है ।

अतः जीव भगवान् का वरण करे,प्रवचन करे, तो उसको भगवत् स्वरूप का बोध और जीवन में भगवत्कृपा सहज ही में प्राप्त हो जाती है । भक्त से भगवान् कभी भी अदृश्य नहीं होते । जहां भी वह चला जाय भगवान् का दर्शन सर्वत्र करता ही है । भगवान् के जितने रूप हैं, जितने धाम हैं । सबका नियन्ता वही परात्पर परमात्मा ही है । वही अनेक रूपों में दृश्य होता है । उसी का हम अवतार के रूप में भी दर्शन करते हैं । अवतार का शाब्दिक अर्थ है उतरना । वह परम पिता परमात्मा जो मायातीत है, वह नित्य धाम से जब परमतत्व अपनी अचिन्त्य योग माया का आश्रय लेकर हमारे पाञ्चभौतिक जगत् में, (किसी पाञ्चभौतिक) जैसे रूप में जब उत्तर आते है तो उन्हें हम अवतार कहते हैं । इस तत्व को वेद शास्त्र सभी स्वीकार करते हैं । अथवा स्खलितान् **जनान् तारयति इति** अवतारः, अव का अर्थ रक्षण होता है । संसार में गिरे हुए दीन हीन मलीन भक्तों आश्रितों को जो तार दे उसे अवतार कहते हैं । भगवान् का अवतार अपने

आश्रित भक्तों के लिए विशेष रूप से होता हैं। अतः उनको हम अवतार कहते हैं ।)

अनादि काल से यह मानव इस 'मैं' का पता लगा रहा है पर आज तक किसी सिद्धान्त पर पहुँच नहीं पाया है। इस लिए कि वह रोगी है, अशान्त और दुःखी है । इसे शान्ति और सुख चाहिये । पर यहां प्रश्न यह है कि जब तक यह पता न लग जाय कि वह है कौन ? उसका निदान कैसे सम्भव है ?

एक सज्जन ने कहा कि मैं ईश्वरीय सत्ता नहीं मानता हूँ । भाई ! यदि आप ईश्वरीय सत्ता नहीं मानते हैं तो आप परम आस्तिक हैं। क्योंकि जिसको मानव मात्र सर्वत्र चाहता है और सदा चाहते रहेंगे, वह है ही नहीं, यह कैसे सम्भव हो सकता है । यदि प्राणियों को प्यास लगती है तो भले ही जल के बिना प्राण परित्याग कर दें किन्तु न्याय का प्रमाण है कि पानी की सत्ता है।

१ भाई ने कहा कि मैं ईश्वर को नहीं चाहता। मैं कहता हूँ तो वह लिखदें कि वह मरना कहाँ चाहते हैं ? वह कहते हैं मैं कभी कहीं मरना नहीं चाहता, यदि मेरे वश में हो तो।

मैं तो यह कहूँगा कि आप अखण्ड सत्ता सत् चाहते है। सत् अर्थात् नित्य अस्तित्व ।'

यह उन भाई को स्वीकार था और आपको भी अवश्य स्वीकार होगा । इसी प्रकार कोई दुःख का भी वरण करना नहीं चाहता । सभी उस अखण्ड ब्रह्म की उपासना करना चाहते हैं ।

अतः पूर्ण रूप से सिद्ध है कि उस अखण्ड परमात्मा को सभी चाहते हैं। **"ब्रह्म मां परमं प्रापुः"** श्रुति उसी का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म कैसा है। मैंने परब्रह्म को प्राप्त कर लिया। उस परमात्मा में सूर्य प्रकाशित नहीं होते। सूर्य के प्रकाश से परमात्मा प्रकाशित नहीं होते। चन्द्रमा एवं तारा-गण भी परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते और विद्युत् प्रकाश से भी परमात्मा प्रकाशित नहीं होता। उसी के प्रकाश से यह समग्र सृष्टि सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि सभी प्रभावित एवं प्रकाशित होते हैं, अतः श्रुति उसको **'सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिः'** (त्रि.म.उ. ४।१) सब ज्योतियों की ज्योति उसको कहा जाता है तो वह एक ज्योति तो पिण्डीभूत है ही जिसके द्वारा सभी प्रकाशित होते हैं। साधक भक्त अपनी साधना द्वारा उस पर ज्योति की कृपा जब प्राप्त करता है तो उसकी कृपा या सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति,** (बृ०उ०४।६) उपनिषद ने तो स्पष्ट शरीर का ही प्रयोग किया है। **"स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः"** (अन्न० उ० ४।३६) अपने शरीर में वह स्वयं ज्योति है। अपने सहित वह अनेक को प्रकाशित करता है। तथा अपनी निर्हेतुकीय कृपा द्वारा ही भक्तों के नेत्रों का विषय भी बनता है।

अतः ऋषियों ने उसका साक्षात्कार किया है और उसी के द्वारा उनका संशय भी समाप्त हुआ है। यही समझ कर साधकों ने सर्व मंगल की कामना करते हुए ही उस परब्रह्म

की प्राप्ति की है।

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।..........
तस्मिन्दृष्टे परावरे (मु.उ. २।२।८।)

जिनका जीवन संशय मुक्त है और अपने इन्द्रियों पर शासन प्राप्त कर लिया है, सभी प्राणियों के हित में सर्वत्र देखने, सुनने, समझने में निरन्तर संलग्न है वह सम्पूर्ण पापों, दोषों से रहित हैं। ऐसे भक्तजनों के नामों का विषय अपनी कृपा से वह अवश्य प्रदान करते हैं।

स्व शरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति । (अन्न० उ०४। ३६।)

एक भी क्षण के लिए वह परमात्मा ऐसे भक्तों से कभी भी अदृश्य नहीं होता जो सर्वत्र उसी की सत्ता एवं कृपा का दर्शन करते हैं। अतः उस अमृत स्वरूप परमात्मा का दर्शन भक्त सर्वत्र करता है। आश्रित रूप में जब वह भगवान् को देखने लगता है तो उसकी कृपा होती ही है। गोस्वामी जी कहते हैं **यह गुन साधन ते नहिं होई ।**
तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥ रा० भा०

श्रुति भगवती कहती है कि **भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते,,** (त्रि०म०उ०८।१।) भक्ति के विना ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता।

"**भगवान् के नाम रूप लीला में भेद नहीं है** । अतः नाम का कीर्तन और भगवान् का चरित्र पढ़े, श्रवण करे, मन में आवे उनका रूप चिन्तन हो, इन सभी रूपों में भगवान् हमारे मुख में कान या हृदय में आते हैं । भगवान् पतितपावन हैं । अतः उनके दिव्यगुण जीवन में न भी आवें तो भी उनके नाम चरित के पठन अथवा उनके स्वरूप का ध्यान मानव के लिए परम मंगलमय है ।

भगवान् का साकार निराकार उभयरूप अचिन्त्य है, क्योंकि दोनों परस्पर अभिन्न है । सगुणरूप भी सर्वव्यापक है । भगवान् के नाम रूप लीला धाम परस्पर अभिन्न और अनन्त है । वैसे लीला दो प्रकार की है । नित्य लीला, और अवतार लीला । नित्यलीला नित्यलोक में सम्पादित होती है । और अधिकारी भक्तों के लिए पृथ्वी में भी प्रकट हो जाती है ।

भगवद्धाम ही विभु रूप में स्थिर है । अतः किसी देश में, किसी काल में, किसी अधिकारी पुरुषको श्रीभगवान् के श्रीविग्रह का उनके धाम का उनकी किसी लीला का दर्शन हो सकता है । भगवान् के नाम रूप लीला धाम का दर्शन भी अधिकारी लोगों को ही हो पाता है । सामान्य लोगों को वहाँ उपस्थित रहने पर भी नहीं हो पाता है ।

अवतार लीला का काल होता है । अवतार काल में पृथ्वी पर उपस्थित प्राणियों को भगवान् का दर्शन सम्पर्क

सम्भव रहता है। प्रत्येक युग के अवतार निश्चित हैं। जैसे सत्ययुग में नरनारायणावतार, त्रेता में परशुराम जी का अवतार, किन्तु पूर्णावतार का निश्चित काल नहीं होता। परात्पर पूर्ण परब्रह्म काल की मर्यादा में आबद्ध नहीं होता। पुनश्च कभी पूर्ण परब्रह्म श्रीराम का और श्री कृष्ण का भी इस धरा धाम पर अवतार अवश्य होता है।

'अवतार लीला और नित्य लीला में सादृश्य भी है" और अन्तर भी है। क्योंकि अवतार के तीन कारण हैं। (१) साधु परित्राण (२) दुष्कर्मियों का विनाश, (३) धर्म-संस्थापन। इनमें से मान्य साधु परित्राण, भक्तों की भावपूर्ति ही नित्य लोक में सम्भव है। अतः नित्य लोक में असुर संहार एवं धर्म संस्थापन लीलायें नहीं सम्पादित होती। अवतार काल में शैशव, बाल, किशोर आदि की लीलायें जो भगवान् सम्पादन करते हैं वे नित्य लीला हैं। नित्य लोकों में उनका सम्पादन होता रहता है। पृथ्वी पर वही लीलायें क्रमशः व्यक्त होती हैं। नित्य लोक में भगवान् कहीं शिशु, कहीं बालक, और कहीं किशोर होते है। उन्हीं रूपों के अनुसार लीला करते हैं। अवतार में आने पर उनका क्रम बन जाता है।

नित्य लोक में सभी उपकरण दिव्य होते हैं। परिकर भी दिव्य होते हैं। वहाँ उस धाम में आसुरी लीला नहीं होती और वहाँ आसुरी समृद्धि भी नहीं होती। वह धाम दिव्य है। अतः वहाँ धर्म संस्थापन का प्रश्न भी नहीं उठता। वहाँ त्रिगुणों

का प्रवेश भी नहीं है। वहाँ सभी कुछ त्रिगुणातीत है। अतः असुरशमन और धर्म संस्थापन लीलायें नित्य नहीं हैं।

अतः कैसा भी संक्यों विद्वान् याज्ञिक क्यों न हो अनित्य का स्मरणस्मारक शास्त्र सम्मत नहीं होता। इसी प्रकार भगवल्लीलाओं में भी नित्य लीला का ध्यान चिन्तन शास्त्र सम्मत है। वही जीव के परम मंगल एवं कल्याण का साधन बनता है। वैदिक परम्परा भी इस तत्व को स्वीकार करता है। धर्मसंस्थापन, असुरविनाशन, लीलाओं का पढन, स्मरण ज्ञान, सतसंग समान हृदय की पवित्रता की ओर प्रेरित करता है, वर्णन के लिए भी उपयुक्त है पर वह चिन्तन एवं ध्येय रूप में अपनाने की न तो परम्परा है और न वह चिन्त्य भी है।

यहाँ विचारणीय तत्व यह है कि हमारे भाव में दृढ़ता एवं निष्ठा का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे भावों के द्वारा हमारा उस परमात्मा से सम्पर्क होता है। उसी के अनुसार उसके आविर्भाव की भी सम्भावना बनती है। उनके स्मरण में जो भगवान् के रूप गुण पराक्रम का स्मरण है, वह पापहारी है और हृदय पवित्र करने वाला है।

वेद भगवान् का आग्रहः— हमारी वैदिक परम्परा के अनुसार भगवान् ने जिनका संहार किया है और जिनके संपर्क में रहे हैं, उनका नाम रूप देह आदि दिव्य नहीं हो सकता। साधक सिद्ध महात्माओं के शरीर तो पाञ्चभौतिक होते ही है उनके चिन्मय तत्व की भावना करना भी शास्त्र सम्मत नहीं हैं।

अवतार शरीर चिन्मय-दिव्य है। अतः उन्हीं का मन्दिर बनाया जाता है। उन्हीं की पूजा, ध्यान, स्मरण मंगलात्मक होता है। भगवद् भक्तों के मन्दिर भी बनाये जा सकते हैं। पर उसी रूप के जब वह भगवान् के सान्निध्य में हों। उनका नित्य रूप ही पूज्य एवं अर्च्य है। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद की मूर्ति तप करते हुए बनायी जाय, वह शास्त्र संगत नहीं होगी। भगवान् राम, नारायण, नरसिंह की मूर्ति के समीप उनकी मूर्ति बनायी जा सकती है, क्योंकि यह रूप उनका नित्य है। इस रूप के भक्तों के स्वरूप यह गौण रहते हैं और भगवान् मुख्य रहते हैं।

स्मारक और स्मरण नित्य का होता है। भगवत् चरित्र का संस्मरण मूर्ति या आकृति द्वारा चिन्ह या प्रतीक के द्वारा होती ही है, क्योंकि यह लीला नित्य है। उस परमात्मा का हम सान्निध्य प्राप्त करें। अतः भगवद् चरित्र श्रवण, मनन, पठन, वर्णन, गायन परम कल्याणकारी है। यदि भगवान् के चरित्र नित्य न भी हों तो भी वह स्तुत्य है। जैसे असुर ध्वंसादि मात्र अवतार लीला है उनका चिन्तन स्मरण हृदय में एक स्फूर्ति प्रेरणा एवं शक्ति का संचार करने वाला है, क्योंकि वही परमगति देने वाले हैं। वह भक्तों को परम सुख प्रदान करने वाले नील सरीरुह श्याम, धनुर्धर श्रीराम की जटा-मुकुटी, वल्कल वसन, वन पथ विचरण करता स्वरूप तो सर्वथा नित्य है। अतः संत तपस्वी, मुनि गणों के मानस का सर्वस्व

है। यही अर्चा विग्रह भगवद् भक्तों का परम धन है और इसी का चिन्तन करके साधक अपने को कृतार्थ मानता है। इसी को वेद ने **बहुधा विजायते,,** के रूप में स्वीकार किया है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाव्विद्यतेऽयनाय ।।
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो "बहुधा विजायते,,
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।

उसको जान लेने से संसार में कुछ जानना अवशेष नहीं रह जाता। संसार रूपी मृत्यु से पार जाने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता है।

यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि कारण चेतन को जानने का आश्रय मात्र शास्त्र है। आस्तिक भारतीय मतों का परम प्रमाण मात्र शब्द है वर्णों का वह समूह जो कुछ अर्थ रखता है उसे शब्द कहते हैं। अक्षरों का समूह अर्थात् शब्द को हम श्रुति के नाम से ही अभिहित करते हैं। सर्वं शब्देन भासते (वाक्य पदीयम्) हम उड़ान चाहे जितना करने का प्रयास कर लें पर समस्त ज्ञान का आधार शब्द ही है। किसी न किसी से श्रवण करने से ही जानकारी का सूत्र प्राप्त हुआ है।

यद्यपि श्रुति का जहाँ तक तात्पर्य है वह मूल तत्व को अनीर्वचनिय रूप में स्वीकार करती है। अवाङ्मनस्गोचर है मात्र अनुभवगम्य है। अनुभव स्वरूप है अव विचारणीय बात

यह है कि अनुभव का आधार क्या है ? हृदय और उसका स्वरूप सबका समान नहीं हो सकता है। फलतः अधिकारी भेद से साधन भेद और साधन भेद से दर्शन का भेद भी उत्पन्न हुआ। अब यदि दर्शन शास्त्र पर ही विचार किया जाय तो, दर्शन का तात्पर्य किसी न किसी रूप में, साधन में निष्ठा का ही समर्थन प्राप्त होता है।

साथ ही हमारे दर्शन एवं विज्ञान की परिभाषा एक नहीं है। विज्ञान तो सेन्द्रियवान् को चेतन मानता है। जिसका स्पर्श किया जा सके, दर्शन किया जा सके, घ्राण द्वारा गंध की प्राप्ति हो सके, श्रवण हो सके, सोच सके, वही चेतन है। परन्तु भारतीय दर्शन इस इन्द्रियज ज्ञान को अथवा मानसिक अनुभूति को चेतना कहता है। गीता ने इस चेतन को क्षेत्र के अन्दर माना है। भारतीय दर्शन चेतन को निर्विकार एवं एक रस मानता है। जो परिवर्तित हो– विकारी हो वह जड़ है।

आस्तिक शास्त्र उसको सर्व व्यापक की संज्ञा देते हैं। अतः जो सर्वज्ञ सर्वव्यापक होगा उसमें देश काल कल्पित होंगे। या तो वह देश काल में होगा। सर्वव्यापक का अर्थ ही है मात्र प्रतीति,। पर इससे केवल '**अहं**' का ही बोध होता है। अनिर्वचनीय मात्र '**अहं**' तत्व ही कहा जा सकता है। वह 'मैं' से भिन्न कुछ नहीं है।

बुद्धि का स्वाभाविक धर्म हैं कि अपनी त्रुटियों को, अपनी दुर्बलताओं को समर्थन देना। अतः बहुत बुद्धिजीवी

अधिक पथ भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। वह भ्रान्त हो जाता है, क्योंकि शास्त्र ने एक सत्य का ही प्रतिपादन किया है।

और वह सत्य भी आधार चाहता ही है, जो सभी के द्वारा स्तुत्य हैं। ओम् या प्राणसंज्ञक अक्षर स्वरूप परब्रह्म का उच्चारण हम करते हैं, उसी के द्वारा पर और अपर स्वरूपों का चित्रण करते हैं। जो त्रिक के अन्तर्गत आता है उसे अपर रूप में ग्रहण किया जाता है जो त्रिक से ऊपर है उसे पर रूप कहा जाता है। जो पर है उसे अव्यय भी कहा जाता है। **परे ऽव्यये सर्वं एको भवन्ति। यत्र विश्वंभवत्येकनीडम्"** यह वाक्य अव्यय या परब्रह्म के लिए प्रयोग किया जाता है। उसको ही हम त्रिपाद एवम् ऊर्ध्व भी कहते हैं। वह हमारा अर्च्य स्वरूप भी है। मन' प्राण, वाक् का त्रिक क्रमशः सत्व, रज, और तम कहा जाता है। यही त्रिक विश्व रचना का एक मात्र आधार है। प्रजापति का एक रूप **"अजायमान"** और **"दूसरा विजायते"** कहा जाता है। इसी को वेद में कहा गया है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।
(यजु॰ ३१।१९।)

यही हमारा अर्चा विग्रह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि के रूप पूज्य है। इसी को परम व्योम (परम आकाश) भी कहा जाता है। परवाक् उसी का रूप है। अग्नि इन्द्र, मित्रा वरूण, यम मातरिश्वाआदि देवों की पृथक् कल्पना सहेतुक है। क्योंकि मूलभूत

शक्ति अनेक रूपों में भासित होती है, और विभिन्न रूपों में कार्य करती हुई देखी जाती है। किन्तु इससे उसके मूलभूत एक तत्व का अपलाप नहीं होता। जिस प्रकार महाकाल की दृष्टि उषा एक है परन्तु उषा का उदय प्रतिपादित होता है।

अगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते ।।

हृदय के मध्य में अंगुष्ठ परिमाण पुरुष विद्यमान है। वह प्राणियों के भूत भविष्य का स्वामी है। इस श्रुति का तात्पर्य सगुण साकार रूप में ही वर्णन में ही है। इसी प्रकार पूरे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ आदिमें देव शब्द विष्णु भगवान् को मुख्य देवता, विग्रह (पूज्य) रूपों में, अर्चा रूप में ग्रहण किया गया है। परब्रह्म परमात्मा को ही अर्चा स्वरूप से अनादि काल से पूजा गया है, उसका उदाहरण वेदों में सर्वत्र प्राप्त है उसके कुछ उदाहरण निम्न हैं।

प्रदद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमो कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।।
(ऋग्वेद १।१५।२।)

अस्मिन् मन्त्रे विष्णु विषये सर्वाधिक महत्व पूर्ण कार्यमस्य वर्णनं पदत्रयेण निखिल जगतो मापयनमस्ति" भगवान् विष्णु ने तीनों लोको को नापा, उसी स्वरूप का वर्णन वेद भगवान् ने किया है। यह अर्चा विग्रह का ही स्वरूप है इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है।

विष्णोर्नुकं वीर्याणिप्रावोचं-
या पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभाय दुत्तरं सधस्तं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ ऋग्वेद

इस आत्मा से भी श्रेष्ठ तत्व अव्यक्त है । उसको कोई प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं । उसी से समस्त संसार विमोहित है । इसको वारण करना जींव के वश की बात नहीं है।

वह व्यापक परमात्मा वीर्यवान् है। वही अपने पाद भय के द्वारा समस्त लोकों का अतिक्रमण किया है । वह परम पुरुष परमेश्वर है, जो बल, क्रिया और ज्ञान आदि सभी शक्तियों का परमाधार है । हम उन्हीं की शरण ग्रहण करते है ।

उसी परमात्मा की अहेतुकी कृपा द्वारा अज्ञान के परदे को हटाकर ज्ञान स्वरूप भक्ति की सृष्टि करते हैं । इसी से साधक का जीवन निर्मल एवं कृतार्थ हो जाता है। उसी अविनाशी पुरुष को भगवती श्रुतियोंने परमपुरुष के रूपमें वर्णन किया है । वह सबका प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि जीव में अज्ञान का इतना अधिक मैल जमा है कि वह जल्दी हटता ही नहीं है। उसी आत्मा को श्रुति ने **एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते ।**
(कठो० अ०१।म०१२।)
रूप में प्रस्तुत करती है। यहाँ इस मेल में परमपुरुष को अर्चा रूप में ही निरूपण किया गया है । उसी को वेद में सर्वत्र राम एवं विष्णु आदि स्वरूपों में व्यक्त किया है ।

इन्द्रियों का प्रत्यक्षी करण बाह्य है ।—

स्वयं प्रकाशित होने वाले परमात्मा ने समस्त इन्द्रियों तथा उनकी वृत्तियों को बाहर की ओर ही बनाया है। अतः साधक बाहर की ओर अधिक देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। अन्तरात्मा को देखने के लिए बाह्यवृत्तियों को कम करना पड़ता है, तभी उसका दर्शन, स्पर्श शरणागति आदि की प्राप्ति होती है। जब कोई साधक बाह्य वृत्तियों का अवरोध करके अन्तर की ओर झाँकता है तो उसे परमात्मा की निर्हेतुकीय कृपा अवश्य प्राप्त होती है ।

परञ्चिखानि व्यतृणत स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत चक्षुरमृतत्व मिच्छन् ।। (द्वि०अ०कठो०मंत्र१।)

अन्तर्यामी की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ही प्रस्तुत मंत्र में दिया गया है और कहा गया है कि परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय साधक को सदैव करना चाहिये। यद्यपि मन की वृत्तियों का इन्द्रियों का प्रवेश बाहर की ओर है तथापि बाहर बाहर ही परमात्मा को ढुढना अज्ञानता है। अन्तर्वृत्तियाँ न बनाकर, सत्सङ्ग भजन पूजन न कर इस दुःख शोकमय नरकों में पहुँचाने वाले अशुद्ध विषय भोगों में ही संलग्न रहने से उस विग्रह एवं उसकी कृपा का दर्शन करने में अक्षम हो जाते है। यह श्रुति का तात्पर्य है। "**शंनो विष्णुरुरुक्रमः**" (ऋग्वेद१।२२।१६

इसी प्रकार भगवान् श्री कृष्ण का वर्णन श्रुति करती है।

अयं वा कृष्णो अश्विन्नाहवते वाजिनी वसू ।
तथा श्रृणुत जमितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरः ।।

(ऋग्वेद ८।८५।३ ।)

इस श्रुति में स्पष्ट रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के नरावतार का ही स्तवन किया गया है।

छान्दोग्य में "तद्वैतत् घोर आंगिरस कृष्णाय वासुदेवाय **देवकी पुत्राय चोक्त्वा"** मंत्र की प्रतिष्ठापना कर दी गयी है।

भगवान् के पूजन अर्चन का वर्णन स्तवन सहित वेदों में भरा हुआ है। जो वेदों का दर्शन तक नहीं किये हैं वह कहा करते हैं कि वेदों में प्रतिमा पूजन या साकार वर्णन या षोड-षोपचार पूजन उपलब्ध ही नहीं है वे दया के ही पात्र कहे जायेंगे। वेद तो कल्पवृक्ष है, जो चाहिये उनसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक मन्त्र में भक्ति प्रापत्तिशरणागति की चर्चा प्राप्त होती है। यजुर्वेद संहिता में प्रायः भक्ति परक मन्त्र ही अधिक प्राप्त होते हैं।

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः,
सुदक्षः सुविताय न व्यसे। घृतप्रतीको
वृहतादि विस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचि ।।

(यजुर्वे० १५अ०म२७)

परमात्मन् ? आप लोक रक्षक एवं भक्तों के परम रक्षक हैं। कर्म में आप परम दक्ष हैं। आप अपने परम भक्तों की

रक्षा सदा ही करते हैं। जागृ= धातु का अर्थ भक्त रक्षा के लिए है। सुविताय सन्मार्ग के लिए अर्थ है।

पवित्रता पूर्वक भक्तों को, आश्रितों को प्रकाश प्रदान करने वाले हैं। "घृ=रक्षणदीपयोः" आप परम प्रकाशमान हैं। और सभी का भरण पोषण करने वाले हैं।

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्द—
ञ्छिश्रियाणं वनेवने । स जायसे मथ्यमानः
सहो महत्वमाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ।।

इस मंत्र में अङ्गिरा का अर्थ भगवान् का नाम कीर्तन करने वाला परम भक्त है। हे परमात्मन्! **अङ्गति इति अङ्गिरस**=का अर्थ व्यापक भी होता है अज्ञानी जीव आपके स्वरूप का ज्ञान चाहे न कर सकें परन्तु शास्त्र सेवन करने वाले महात्मा या विद्वान् लोग आप के स्वरूप को जानते हैं। यहाँ भगवान् के अर्चा स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार वेद मन्त्रों में सर्वत्र स्तुति, भक्ति पूर्वक प्रार्थना की गयी है। अतः सभी मन्त्रों में उस परब्रह्म स्वरूप का ही निरूपण सर्वव वेदों में प्राप्त होते है।

अनिरूक्त प्रजापति का वर्णन --

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो वहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानिविश्वा ॥

(यजु०, ३१।१९।)

इस मन्त्र का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। वैसे

इस प्रकार का अर्थ इसका हो सकता है।

(प्रजापति) सम्पूर्ण प्रजाओं स्वामी परमात्मा (अजायमानः) नित्य एवं अजन्मा होनें के कारण अथवा अनुत्पन्न होता हुआ (सः) वह परमात्मा (गर्भे अन्तः चरति) जरायुज, अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, आदि चारों प्रकारों के भूतों के गर्भ में जीव स्वरूप से विचरण करता है। और (बहुध विजायते) अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, या संतान उत्तन्न करता है। वैसे परमात्मा स्वयं निर्विकार है। वह उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु अपने प्रेरित माया द्वारा स्वयं कार्य कारणात्मक जगत् रूप में परिणत हो जाता है। क्योंकि संसार का वस्तु परमात्मा से हीन होकर एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता है। सभी वस्तु गर्भ आदि का नियमन एवं प्रकाशन दोनों कार्य वही संपादन करता है।

अतः वही गर्भ में प्रविष्ट होने वाला तथा गर्भों को उत्पन्न करने वाला, और नाना रूप से उत्पन्न होने वाला है। (धीरा') विद्वान पुरुष (तस्य) उस परमात्मा के (योनि) स्थान अर्थात स्वरूप को (परिपश्यन्ति) स्वात्मा भेद रूप से सर्वत्र देखते हैं (विश्वाभुवनानि) सम्पूर्ण लोक (तस्मिन् ह तस्थुः) उसी परमात्मा के आधार या आश्रय रूप में निवास करते हैं। जैसे घट मृत्तिका के आधार पर अथवा पट तन्तुओं के आधार पर है। उसी प्रकार कार्य कारणात्मक सम्पूर्ण जगत परम-कारण रूप परमात्मा के रूप पर अवस्थित है। इस प्रकार

से ईश्वर की अगत् कारणता और संसार का अभेद भी सिद्ध हो जाता है ।

पर इस मंत्र का तात्पर्य भिन्न है। समस्त प्रजाओं का स्वामी परमात्मा स्वरूप से नित्य होने के कारण उत्पन्न अर्थात् जन्म मरण रहित होते हुए भी जगत का उपकार एवं भक्तों पर अनुग्रह के कारण वह अवतरित होता है, उसी को वेद (गर्भे अन्तः चरित) का प्रयोग किया है। वह गर्भ में प्रवेश करता है । इसी तत्व को अर्चा, पूजा, विग्रह के रूप में स्वीकार किया गया है । इसी के आधार पर मन्दिर आदि का भी निर्माण किया जाता है । **(वहुधा विजायते)** का तात्पर्य दशों अवतारों का वर्णन अर्थात् वह श्रीराम, कृष्ण, मत्स्य, कूर्म, वाशह आदि नाना योनियों में जन्म ग्रहण करता है । यह मंत्र अवतार का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है । **"एतन्नानावताराणांनिधानं बीजभव्ययम्"** कहा गया है । (तस्य योनिं) विद्वान् लोग उसकी उत्पत्ति के स्थान में अर्थात् कहाँ किस काल में और किस कारण अवतार हुआ इस रहस्य को (परिपश्यन्ति) अच्छी तरह से जानते हैं। उसी अवतार धारण करने वाले परमात्मा के आश्रय से (विश्वा भुवनानि तस्थुः) सम्पूर्ण लोक स्थिर रहते हैं । स्थिर रहने का तात्पर्य लोक मर्यादा तथा वैदिक विधानों की दृढ़तो धर्म स्थापन, आदि परमात्मा के अवतार का मुख्य प्रयोजन है । उसी को साधक उपासक लोग अर्चा विग्रह के रूप में स्वीकार करके पूजन अर्चन वन्दन

आत्म निवेदन आदि का विधान करते हैं। अवतार विज्ञान का जो हमारे सनातन धर्म की परम्परा में मान्य है वह इस प्रकार से व्यक्त किया गया है। (प्रजापति) का तात्पर्य देव विशिष्ट प्रतिमा का वोध ही सतातन परम्परा की न्यास अर्थात् पहचान रही है।

दूसरी व्याख्या इसकी इस प्रकार से की गयी है। तैंतीस देवताओं से परिपूर्ण या व्याप्त प्रजा नाम का देवता **गर्भे अन्तः चरति** प्रत्येक पदार्थ के ठीक बीच में विचरण करता है। (अजायमानः) वह स्वयं शक्ति रूप से नित्य है, और अनेक रूप से वस्तुओं का विस्तार करता है। जो बहुत विद्वान हैं, वही परमशक्ति को ठीक-२ पहचान सकते हैं। इस प्रकार इन तीनों प्रकार की व्याख्याओं से भी वह सर्वज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा की मूर्ति, प्रतिमा या विग्रह का प्रकाशन होता हैं। यज्ञों में देवपूजा का प्रकरण प्रथम उपस्थित होता है उस यज्ञ में प्रधान देवता के रूप में या प्रधान शक्ति के रूप देव पूजन का ही विधान है, जिसमें सुवर्ण प्रतिमा श्रीराम, श्रीकृष्ण, या शक्ति की स्थापित किया जाता है। वही पूजा को ही सगुण साकार या अर्चा रूप या प्रतिमा विग्रह आदि विविध रूपों में स्थापित किया जाता है। संसार में शक्ति की स्वीकृति सर्वत्र होती है। उसका तात्पर्य अन्य हो सकता है। पर पूजा किसी न किसी रूप में स्वीकार की जाती है।

आरण्यक में विष्णु भगवान् को अर्चा रूप में स्वीकार

किया गया है।

किं तद् विष्णोर्बलमाहुः कादीप्तिः किं पराणम् ।
एको यद्धारयद्देवः रेजती सेदती उभे ।।
वाताद्विष्णोर्बलमाहुः अक्षराद्दीप्तिरूच्यते ।
त्रिपदाद्धारयद्देवः यद्विष्णोरेकमुत्तमम् ।।
अपमा सोममृता अभूमागन्मज्योतिरविदामदेवान् ।
किनूनमस्मान् कृणवदरातिः किंधूर्तिरमृतमर्त्यस्य ।।

(ऋक्संहिता ८।४८।३)

१– "एष वै पिता" (यजु० ३७।५।)

२– "सहैष भर्त्ता" शतपथे ४।६।७।२१

३– "एष वै गर्भो देवानाम्"

१– वह परब्रह्म परमात्मा निश्चय सबका पिता है।

२– वही मेरा स्वामी है।

३– देवों का अध्यक्ष गर्भ भी स्वीकार करता है, और मानवोचित चरित्रों की प्रतिष्ठापना तथा लोक शिक्षा हेतु आचरण करके संसार को आकृष्ट करता है।

जात वेदसे सुनवाय भरातीयतोनोदहाहिवेदः ।
सनः पर्षदति दुर्गाणिनावेवसिन्धु दुरितात्यग्निः ।।

(ऋग्वेद १।६।१)

इस मंत्र में शक्ति स्वरूप का वर्णन किया गया है।

यस्येमाः प्रदिशः यस्य वाहुः कस्मै देवाय हविषाविधेम

(ऋग्वेद १।१२१।४)

इस ब्रह्म के श्याम वर्ण शरीर का वर्णन इस मंत्र में किया गया ।

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः । (ऋग्वेद ८।४।१५।५।)

पञ्चदेवों का वर्णन वेद में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। शक्ति एवं देवताओं का पूर्ण वर्णन सर्वत्र प्राप्त होता है ।

सभी पदार्थों का वर्णन वाक् के भेद से ऋक् साम और यजुः हैं। अतः श्रूति यही प्रतिपादन करती है ।

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः
सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वतेजः सामरूपं हि शश्वत्-
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।।

(तैत्तिशीय ब्राह्मण २।१२)

अप्स्वेग्न सधिष्ट्व सौषधीरनुरुध्यसे ।
गर्भेसन् जायसे पुनः । (यजुः १२।३६।)

इस मंत्र में साक्षात् अग्नि देव का जल से प्रकट होना कहा गया है। गर्भ में रहते हुए भी आप प्रकट होते हो। उसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा कण-२ में व्याप्त रहते हुए भी अवसर विशेष पर प्रकट होता ही है।

यो अनिध्यो दीदृयदप्स्वन्तर्यं विप्रास इलतअध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ।।

[ऋग्वेद १०।३०।४।]

जो बिना ईन्धन के अग्नि जल के अन्दर व्याप्त है ।

दीप्त हो रहा है यज्ञ में याज्ञिक लोग उसी की प्रार्थना करते हैं। यहाँ इस मंत्र में अग्नि 'अपांनपात' किया गया है। इसी प्रकार **"गर्भे चरति अन्तर जाय मानो बहुधा विजायते"** के रूप में स्वीकार किया गया है। वह परमात्मा का जो वेदों में सत्य या ज्ञान रूप में वर्णन किया गया उसके लिए वेद भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हुए कहते हैं, **बहुधा विजायते** अनेक रूप में उत्पन्न होता है। अग्नि का उदाहरण उसी के लिए दिया गया है। जैसे स्तुति करने पर अग्नि प्रकट होते हैं। वैसे भक्तों की पुकार पर वही **'अज'** रूप परमात्मा भी प्रकट होता है।

ऋग्वेद में शुक्र एवं कृष्ण रूप का ग्रहण किया गया है।

"सुक्रंते अत्यद यजतंते" देवताओं कीं प्रार्थना एवं ऋग्वेद संहिताओं में वर्णित है।

ॐ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ [ऋग्वेद प्र०म०१]

इस मंत्र में अग्नि के कई विशेषण दिये गये हैं। **"पुरोहितम्"** इसका शब्दार्थ है आगे रखा हुआ। पहले इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। "अग्नि" यह नाम और अर्थ अनेक देवों के लिएप्रयोग किया गया है। पृथिवी की अग्नि, अन्तरिक्ष की अग्नि, विद्युद्रुप अग्नि, और द्यु लोक की सूर्य रूप अग्नि, तीनों अग्नि ही हैं। उनमें से ऋग्वेद इस प्रार्थिव अग्नि को प्रधान आधार मानकर इससे देवताओं का विज्ञान प्रकट किया है यजुर्वेद मध्यम अग्नि वायु या विद्युत को मुख्य आधार

मानता है और सामवेद सूर्य रूप अग्नि को अग्नि के सम्बन्ध से सभी विज्ञान प्रकट करता है, इसका सम्बन्ध तीनों वेदों के प्रारम्भ में विद्यमान है। **"अग्निमीले पुरोहितम्"** (ऋ०) **"अग्न! आयाहि वीतये"** साम वेद में कहा गया है।

हे अग्ने ! तुम हमारी रक्षा के लिए आओ। सूर्याग्नि बाहर से हमारे पास आता है। **"अग्निमीले पुरोहिम्"** मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो मेरे समक्ष विद्यमान है। इस मंत्र से ज्ञात होता है कि अग्नि सदैव मेरे पास विद्यमान है। तथा एक ऊपर से आने वाली है। इन दोनों में परस्पर जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। एक दूसरे से पैदा होता है, अतः मूल में दोनों एक ही है। यह भी सगुण की ओर ही प्रेरित करता है, क्योंकि अग्नि देव तो साक्षात् ही दृष्टि गोचर होते हैं।

"ऋग्वेद में पुरोहितम्" विशेषण भी सहेतुक है। **अग्निः पुरः अग्रे हितम्** समक्ष स्थापित होने वाला सब कुछ अग्नि है। इस पुरोहित विशेषण के साथ यास्क की यह युक्ति द्रष्टव्य है, **"यत्किञ्चिद्दार्ष्टि विषयकम् अग्निकर्मैव तत्"** (निरुक्त'अ.'७) अर्थात् जो कुछ नेत्रगोचर होता है वह सभी अग्नि कर्म है। जितने पार्थिव पदार्थ हैं उन सब में अग्नि व्याप्त है। या ऐसा भी कहा जा सकता है कि सब कुछ अग्नि ही है। अग्नि ही भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। यही अग्नि–तत्व एवं रूप की मौलिकता है। उष्णता या प्रकाश इसी की एक अवस्था है। वही अग्नि प्राण जब एक गति विशेष

धारण करता है तब उष्णता प्रकट हो जाती है। यजुर्वेद में भी अग्नि की व्याख्या इसी रूप में की गयी है।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ।। यजु०, [१२।३७]

हे अग्नि ! तुम औषधियों के गर्भ में हो, वनस्पतियों के गर्भ में हो, और जल के भी गर्भ में हो।

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम ।

अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोमे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधी ।।

[ऋ० १।७०।२।]

वृक्ष और लता को संवर्धन संकोचन के साथ फैलना आदि तत्व रूप अग्नि के कारण होता है।

प्रमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।

ससं न पक्वमविदच्छुयन्त रिरिहां सं रिप उपस्थे अन्तः ।

]ऋ०१०।७९।३।]

सायणाचार्य के अनुसार इस मंत्र का तात्पर्य माता पृथिवी की बहुत सी लताओं में और उन लताओं के उत्कृष्टतम गुह्य स्थान मूल में इच्छा करती हुयी अग्नि बच्चे की तरह सरकती है और पके हुए अन्न की तरह आकाश का आच्छादन करने वाले शुद्ध नीरस वृक्ष को पृथिवी के भीतर के भाग में प्राप्त होती है। जब समस्त का संवर्धन विस्तार रसों का आकर्षण आदि सभी अग्नि से ही सम्पादित होते हैं। तो मानव उससे भिन्न कदापि नहीं है, उसकी भी इच्छाओं की संतुष्टि

अग्नि द्वारा ही सम्पादित होता है।

भगवद् भक्ति और सपर्या :—

वेद में भगवद् भक्ति और सपर्या दोनों की महत्वपूर्ण चर्चा की गयी है।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः। अथर्व० १।५।२।, ऋग्वेद १०।६।२।]

हे प्रभो ! आप का जो आनन्दमय भक्तिरस है हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभ कामनामयी माता अपनी संतान को संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, उसी प्रकार आप मेरे ऊपर कृपा करें।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
सर्वं यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

यहाँ मंत्र में 'नमः' पद शरणागति की पूर्ण रूप से पुष्टि कर रहा है और सीधे परब्रह्म विग्रह की ओर निर्देश कर रहा है। अर्थात् भगवान् ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान रूप तथा सभी पदार्थों एवं प्राणियों के एकमात्र आधार हैं। आप सुख एवं भक्ति रस के साधन रूप हैं। आप महात्तम और श्रेष्टतम भक्ति स्वरूप ब्रह्म को हमारा नमस्कार है। यहाँ भी अर्चा-रूप विग्रह का ही पोषण किया गया है। भक्ति के द्वारा ही सुख की कामना साधक भक्त यहाँ कर रहा है।

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः
यदजः प्रथमं सम्बभूव सह तत् स्वराज्यमियाय यस्य
नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ [अथर्व०१०।७।३१।]

प्रस्तुत मंत्र में भगवद् भक्त भगवान् को पुकारता है। अथवा उनके नाम का जप करता है। वह अवश्य इस नश्वर संसार के बन्धनों को काटकर भगवान् की पराभक्ति को प्राप्त करता है, जिसके समान संसार की कोई भी वस्तु है ही नहीं।

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व, स्वयं युषस्व। महिमा तेऽन्येन न संनशे ।। [यजु० २३।१५।]

यहाँ साधक को प्रेरणा दी जा रही है कि तुम स्वयं अपने को दीप्यमान करके और यज्ञ द्वारा मेरा पूजन और भजन करके परम भक्ति और मेरा सान्निध्य प्राप्त कर सकते हो। तुम अपने मन में कभी भी यह विचार न आने दे कि मैं तेरे साथ नहीं हूँ। तुम्हारी तुलना में कोई नहीं है, और तेरा बरावरी भी कोई नहीं कर सकता है।

जीव भगवान् से निर्भय होने की याचना करता है। याचना उसी से की जाती है जो समक्ष दृष्टिगोचर होता है। विग्रह के समक्ष ही याचना होती है। अतः मूल मे **'पुरस्ता-दुत्तरादधरादधयं नो अस्तु"** अर्थ० १६।१५।५।

प्रभो ! जो मेरे समक्ष हों भिन्न अभिन्न सभी से अभय का दान दें।

अभयं मित्रादभयममित्रा ज्ञातादभयं परोक्षात् अभयं नक्तमभयं दिवा न सवो आशा भय मित्रं भवन्तु ।। (अथर्व० १६।१५।६।)

अर्थात् मित्र-अमित्र, ज्ञात-अज्ञात दिन-रात एवं दिशायें सबसे अभय का दान दें जिससे मैं आपका अर्चन करने में सक्षम हो पाऊँ ।

देवान् यज्ञेन बोधय । उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्ति यजमानं च वर्धय। [अर्थव० १८।६३।१०]

यज्ञ पुरुष को यज्ञ के द्वारा जागृत करने की प्रेरणा प्रस्तुत मंत्र में की गयी है । उत्तम आयु, उत्तम संतान, गौ आदि पशुप्राप्ति, कीर्ति और यजमान की बृद्धि करने के लिए कहा गया है ।

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो पद विहत्येनेजिरे ।।

(अथर्व० ७।५।४।)

अर्थात् देवता जो निज श्रेय हविद्वारा जो यजन करते हैं, वह यज्ञ अत्यन्त ओजस्वी है क्योंकि वह भगवच्चरण में समर्पण के उद्देश्य से किया जाता है । यहाँ भी अर्चा विग्रह की ही ओर निर्देश किया गया है। वेदों में सर्वत्र भगवान् को विग्रह मानकर

ऋतपात्रमसि (१।२।३ साम)

ऋतस्य सदने सीदामि (साम० १।२।२)

सत्य को धारण करो या सत्य स्वरूप परमात्मा के अर्चन के पात्र बनो । जब तक पात्रता नहीं आयेगी तब तक जीवन में उस प्रभु का सान्निध्य भी प्राप्त नहीं हो पायेगा ।

ब्राह्मण के देवताअध्याय में प्रार्थना की गयी है कि "ब्रह्म सत्यं च पातु माम्" (साम० १।४।५।) ज्ञान और सत्य स्वरूप परमात्मा मेरी रक्षा करें। यहाँ ब्रह्म का ही आह्वान किया गया है।

"ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधुः" (ऋ० १०।१२।३१)

ऋत स्वरूप परमात्मा को संत लोग धारण करके संसार के दुःख को मेट देते हैं। अतः सत्य को धारण करने वाला महात्मा भगवत् पूजन करके और अपने हृदय में उन्हीं सर्वेश्वर पुरुष को धारण करके संसार की ग्रन्थियाँ काट देते हैं।

"अहमनृतात् सत्यमुपैमि" वह व्यवहार में भी उसी सत्य सनातन परमात्मा की ओर ही अपने मन को रखता है। **"सुगा ऋतस्य पन्थाः"** सत्य, ऋत भक्त को पवित्र बनाती है।

शुक्ल यजुर्वेद में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि प्रभु असत् कर्मों से हमारी रक्षा करें।

परिमऽग्ने दुश्चरिताद् वाधस्वा मा सुचरिते भज।

(शुक्लयजु० ३।२८।)

वेद में अग्नि को ही परमात्मा और श्रीराम रूप से स्मरण किया गया है।

'अहमनृतात् सत्यमुपैमि' (१।५)

मै सदा सर्वदा सत्य की उपासना करता हूँ।

वर्धपारयिम् (३।४) ऐश्वर्य का वर्धन करने वाला सत्य है।

अग्ने यन्मे तत्वा ऊनं तन्म आपृण (३।१७।)

परिमाग्ने उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतम् अनु ।। (४।२८)

"**ऋतस्य यथा प्रेत**" (७।४५।) सत्य परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलो। वेदों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पूजन आदि सभी मार्ग परमात्मा के हैं, उसी के पूजन अर्चन से सद्विचार उत्पन्न होते हैं।

अग्ने अच्छा वदेह नः । (६।२८)

हे अग्निदेव ! आप हमारे समक्ष होकर मेरी अभिलाषा को पूर्ण करें।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टा सँसृजेथाम्० ।

हे प्रभो ! आप हमें प्रत्यक्ष रूप में कर्मों में प्रवृत्त करने की प्रेरणा करें।

ऋग्वेद में भक्ति और अर्चा की पूर्ण चर्चा की गयी हैं।

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्य कृष्टयः ।
श्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि । (ऋग्वेद १।४।६।)

हमारे समस्त दुर्गुणों, तापों को नष्ट करने वाले प्रभो ! हमारे शस्त्रों की मेरी सच्चरित्रता की, हमारे अर्चन की सदा प्रशंसा एवं समर्थन करते रहें। साथ ही अर्चा करते हुए भगवान् की श्रेष्ठ भक्ति हमारे हृदय में प्रतिष्ठित हो अर्थात् भगवान् की भक्ति करने के लिए हम सदैव तत्पर रहें।

देवानां सरत्मुपसेदिमा वयम् । (ऋग्वेद १।८९।२।)

हम लोग दोनों मैत्री एवं निष्ठा की प्राप्ति करें।

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासुधेहि (ऋग्वेद १।१२३।१३।)

प्रभो ! हमारे सुख और मंगलमय उत्तम संकल्प ज्ञान कर्म और भक्ति को धारण करें ।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम (ऋग्वेद ५।५१।१५।)

हम कल्याण मार्ग के पथिक सदैव बनें ।

जीवा ज्योतिरशीमहि (साम० ५०३।५।२)

हम शरीरधारी प्राणियों के लिए आप ज्योतिः रूप में प्रकाश एवं कृपा प्रदान करें ।

जीव की समस्त भावनायें, कामनायें मात्र उस परब्रह्म-स्वरूप परमात्मा से ही याचना की गयी हैं। ये वैदिक सूक्तों एवं मन्त्रों में आज

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिभण्यत्
इन्द्रमित स्तोता वृषणं सचा
सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत ।। (ऋग्० ८।१।१।)

यहाँ हिताकांक्षी उपासक की चर्चा की गयी है। प्रस्तुत मंत्र में भक्ति प्रपत्ति की याचना की गयी है। साथ ही शरणागति का उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है, जो सज्जन वेदों में वंशानुक्रम का अन्वेषण करने का प्रयास करते हैं वे वेदों के बारे में अनभिज्ञ हैं। वेदों में बीज रूप से कोई बात कही जाती है, उसकी व्याख्या रामायण एवं पुराण सदा करते रहे हैं और स्मृतियाँ भी उन वाक्यों की व्याख्या करती है।

"वेदों में प्रभु तुल्य उपदेश"

वेद इतिहास नहीं है जिनमें सबका संबन्ध लिखा जाय

रामायण के सभी नाम जो प्रधान हैं वह वेदोंमें विद्यमान हैं। भगवत् कृपा गुरु कृपा भी वेद में कही गयी है।

दक्ष्युत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा।

सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ (ऋग्० ९।६४।२८।)

गुरु और परमात्मा की कृपा के बिना कोई परमार्थ में कुशल नहीं है। कितनी सहेतुक चर्चा इस मन्त्र में विद्यमान है। इसमें कोई यदि यह कहे कि यहाँ गुरु और परमात्मा की कृपा का सम्बन्ध नहीं दर्शाया गया है अथवा मानव से इसका कोई प्रयोजन नहीं है तो वह दुःसाहस ही कहा जायगा।

न त्वावाँ अन्य दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।

अश्वायन्तो भगवन्निन्द्र वाजिनो गत्यन्तस्त्वा हवामहे ॥

(ऋग्० ७।३२।३३।)

इस मंत्र में सद्गुरु के रूप में परमात्मा का ही प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् हम मुमुक्षुओंको आप विमुक्ति की ओर प्रेरित करें। यह परमात्मारूपी सद्गुरु का आह्वान किया गया है। इस मंत्र में मुक्ति की उपासना करने वाले साधकों को सद्गुरु की कृपा प्राप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति कही गयी है। "**वाजिनो**" का अर्थ मुक्ति की इच्छा करने वाले, और भगवान् =का अर्थ परमैश्वर्य पूर्ण परमात्मा है। यहाँ सगुण साकार के रूप में ही उस अज=परमात्मा को ग्रहण किया गया है।

अयमग्नि: सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।

रायईशे स्वपत्यस्य गोमय ईशे वृत्र हथानाम् ।। ऋग् ३।१६।१)

इस मंत्र में परमात्मा रूप अग्नि का ही निरूपण किया गया है । भगवत् कृपा के द्वारा ही अविद्या का नाश होता है। सर्व पापक्षय होने पर जीव शुद्ध होता है । अनुभूत प्रधान ज्ञानियों द्वारा, परम ऐकान्तिक भक्तों द्वारा प्रकाश रूप परमात्मा सायुज्य प्राप्त कराता है ।

वह परमात्मा ही हम सभी प्राणियों का गृहपति और हृदयरूपी मन्दिर का अध्यक्ष है। हिंसाहीन यज्ञ एवं प्रेमा भक्ति-योग के द्वारा हमें ले जाने वाले नेता के रूप में भी आप ही सर्वत्र विद्यमान हैं। हे विश्ववार तुम्हीं सर्वप्रकार के पालक एवं प्रकृष्ट ज्ञान रूप में विद्यमान हो । और तुम्हीं अर्चन आदि की ओर कल्याणमय पथ की ओर बुद्धि प्रेरक भी हो। वरणीय भक्तों एवं ज्ञानियों के प्राप्य भी आप ही हैं ।

त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे ।

त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ।।

(ऋग्वेद ७।१६।५।)

सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये ।

अपां न पातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ।।

(ऋग्वेद ३।९।१।)

मैं मरणशील प्राणी हूँ । अत: अपनी आत्मरक्षा हेतु आपका पूजन अर्चन सुन्दर द्रव्यों या ऐश्वर्य के द्वारा पवित्र ज्ञान

एवं दान दाता को पातक रहित बनाने के लिए आपका आह्वान करता हूँ । वेदान्त का सिद्धान्त है कि जिस काल में ब्रह्मज्ञान होता है उसकाल में संसार का अज्ञान रूपी आवरण नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध भोगोपयोगी विक्षेप बना ही रहता है । भगवत्साक्षात्कार होने से मात्र मूलाविद्या का नाश होता है । लेशाविद्या तब भी रह जाती है । उस विद्या की निवृत्ति प्रारब्धक्षय होने पर ही हो पाती है ।

अतः नारद, शुकदेव आदि को भी भगवत् लीला कथा की पिपासा सदैंव बनी रही ।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ।
(मु०उ० २।२५।)

भगवत् कीर्तन तीन प्रकार का कहा गया है । स्वरूप कीर्तन, गुण कीर्तन, और नाम कीर्तन । वेदों में, उपनिषदों में भगवान् का स्वरूप कीर्तन ही होता है । इतिहास पुराणरामा-यणादि रूप गुण कीर्तन होता है। विष्णु सहस्र नाम, श्रीराम सहस्र नाम से भी नाम कीर्तन होता है ।

कर्म काण्ड तो भगवान् का स्वरूप ही है । वेद भगवान् अनुग्रह करते हुए कहते हैं—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।"

कर्म काण्ड को भगवत् स्वरूप ही कहा गया है । भूत, भविष्य और वर्तमान सब भगवत् स्वरूप ही मानकर पूजन किया जाता है ।

"पुरुष एवेदं सर्वं यत्किञ्च भूतं यच्च भाव्यम्।"

संसार की समग्र वस्तु का श्रुति, स्मृति, इतिहास सबके आदि, अन्त और मध्य में भगवत् कीर्तन किया गया है। सर्वत्र पूजन का ही वैशिष्ट्य दिखाई पड़ता है। अतः वेद का एक-एक अक्षर ब्रह्म स्वरूप परमात्मा है। उसका पूजन करना सगुण साकार ब्रह्मका ही पूजन करना है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ईश०उ०

विद्या के द्वारा अमृत की प्राप्ति कही गयी है। विधि निषेध की अपेक्षा तो प्रचुर मात्रा में अज्ञानियों में ही दिखाई पड़ती है, परन्तु जो तत्वदर्शी हैं वे भगवान् में विरुद्ध तर्को का दर्शन नहीं करते।

ऋग्वेद में "सुते सुते" का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य **"अतिभक्तियज्ञम्"** भक्ति यज्ञ प्राप्त करने का उद्देश्य दर्शाया गया है। दृष्टान्त के द्वारा कहा गया है कि जिस प्रकार गायें अपने वत्सों का असह्य वियोग होने पर उनको प्राप्त करने के लिए घर की ओर दौड़ पड़ती है, उसी प्रकार भक्तों की प्रार्थना श्रवण करके परमेश्वर स्वयं उनपर अनुग्रह करने के लिए दौड़ पड़ते हैं।

१- इमा उत्वा सुते-सुते नक्षन्ते गिर्वणो गिर :
गावो वत्सं न धेनवः। (ऋग्वेद ६।४५।३८।)

पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये हुवेम वाजसातये।
(ऋग्० ६।५७।१)

हम उपासक गण परम सामर्थ्य शाली परमात्मा से तथा सब प्रकार से हमारा पोषण करने वाले परम प्रभु से मैत्री अथवा सख्य भाव के द्वारा अपना कल्याण करना चाहते हैं। अथवा ज्ञान रूपी आनन्द को प्राप्त करने के लिए उनका आह्वान करते हैं।

असिग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
सजोषा वृषभं पतिम् । (ऋग्वेद १।९।४।

हे प्रभो ! आप सभी भक्तों द्वारा समान रूप से भजनीय हैं। **"जोषणं जोषः समानो जोषो यासां ता"** सजोषा = सर्वैर्भक्तैः। आप हमारे रक्षक, अध्यक्ष सभी कुछ हैं। मेरी वाणी आपकी प्रार्थना, भजन आदि करती रहे। आपकी उत्कर्षता ही हमें मंगल प्रदान करेगी। इस मंत्र में भगवान् से भक्त याचना करता है कि आपकी प्रार्थना भक्ति, प्रपत्ति ऐश्वर्य सभी को समान रूप से प्राप्त है। आप ही प्रभु मेरे रक्षक हैं।

अपां फेनेन न मुचेः शिरः इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजयस्पृधः ।। ऋग्वेद [८।१४।१३।]

यद्यपि निघण्टु में कर्मार्थक कोष का पाठ सकारान्त ही पढ़ा गया है। [फेनेन] का अर्थ बढ़ना है। स्फायी वृद्धौ से फेनेन शब्द निष्पन्न होता है। 'नमुचे मायायाः' इस मंत्र का तात्पर्य है।

शिरो मोहन प्रधान शक्तिमदवर्तय ऊर्ध्वमवर्तयोच्छिन्न ।

इस मंत्र का अर्थ है प्रभो ! भक्ति शस्त्र के द्वारा नमुचेः =

शक्ति का नाश करो । हमारे अन्तःकरण में बढ़ने वाली बाह्य संसारिक वृत्तियों को अपनी भक्ति द्वारा नाश कर दो अर्थात् भगवान् की भक्ति सर्वदोष विनाशिनी है ।

जिस प्रकार जीव स्वरूपतः निराकार होते हुए भी साकार विग्रह से सम्पन्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी निर्गुण निराकार होते हुए भी दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा सच्चिदानन्दमय स्वरूप को धारण करता है ।

जिस प्रकार काष्ठव्यापक अग्नि घर्षण करने पर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार दाहक और प्रकाशक विशिष्ट अग्नि की स्फुलिङ्ग के रूप में प्रकट होता है । उसी प्रकार निर्गुण निराकार निर्विकार ब्रह्म भी भक्तों के साधन भजन के द्वारा अपनी कृपा शक्ति के रूप से अनुग्रहार्थ प्रकट होता है ।

अथवा जैसे जल हिम के रूप में व्यक्त होता है, उसी प्रकार निराकार ब्रह्म सगुण साकार रूप से व्यक्त होता है। आज के आधुनिक विद्वान यह कह दिया करते हैं कि वेदों में राम कृष्णादि नाम नहीं है । यदि ये नाम आये भी हैं तो उनका पूर्वापर सम्बन्ध नहीं हैं, यह भी निःतथ्य है क्योंकि वैदिक परम्परा के अनुसार उनका अध्ययन नहीं है ।

वेद इतिहास नहीं है, जिसमें कहानी के रूप में किसी का समग्र क्रिया कलाप वर्णित हो । बीज रूप से सभी तत्व एवं सम्बन्ध तथा ऐश्वर्य का पूर्ण वर्णन वेदों में विद्यमान है ।

यजुर्वेद संहिता में एकही मन्त्र में कई अवतार की कथा

कह दी गयी है। अब इसको कोई न समझ पावे तो वह दया का पात्र ही कहा जायगा। वेद का तात्पर्य मात्र अभिधा से से नहीं आ सकता है।

"प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

(यजुर्वेद सं० ५।२०।)

भगवान् विष्णु के तीन पादविक्षेपों से सम्पूर्ण भुवन तथा भूतजात अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस मन्त्र में **"मृगो न भीमः"** से नरसिंहावतार का, **'कुचरः'** के द्वारा श्रीराम कृष्ण का, क्योंकि भूमिचारी यही अवतार रहे हैं। **"त्रिषु विक्रमणेषु"** के द्वारा वामनावतार का पूर्ण वर्णन कर दिया गया है।

'कौ पृथिव्यां चरतीति कुचरः मत्स्यकूर्मादिरूपेण"

कह कर श्री उव्वट ने भी अपने भाष्य में सूचित किया है।

अतः स्पष्ट होता है कि ईश्वर गर्भ के भीतर विद्यमान होते हैं। वह अजन्मा होने पर भी श्रीराम कृष्णादि रूपों में आविर्भूत होते हैं।

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते"

(यजुर्वेद ५।२०।)

एषो ह देव प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

(यजुः संहिता ३१।१६।)

यह देव सभी दिशाओं में व्याप्त होकर स्थिर है। हे

जनो ! वह देव इससे पहले भी अनेक रूपों में उत्पन्न हुआ है और वही गर्भ में भी स्थिर है । वही उत्पन्न होकर पुनः उत्पत्स्यमान होता है । तथा वही सभी पदार्थों में भी व्याप्त होकर सर्वतोमुखी रहता है ।

वैदिक परम्परा में अर्थ का निर्णय तत्समान शास्त्रान्तरों से किया जाता है । जैसे **"व्रीहिभिर्यजेत् यवैर्वा"राजा स्वाराज्य-कामो राजसूयेन यजेत** इत्यादि स्थलों में, यव, और राजा शब्द का क्या अर्थ है ? इन शब्दों का वैदिक वाक्यों से निर्णय न होने पर भी आर्य पद्धति के अनुसार 'दीर्घशूक' और क्षत्रिय अर्थ लिया जाता है । अतः यह कहना कि रामकथा का सम्बन्ध वेदों में नहीं है, यह निकृष्ट नियति का द्योतक माना जायेगा । इसी प्रकार उपनिषदों में 'आकाश' 'प्राण' आदि शब्द भी आये हैं । उनका अर्थ अन्य शास्त्रों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वेद में मंत्र आता है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतो स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।
(ऋग्वेद १०।९०।१।)

यह **"पुरि शेते पुरुषः"** पुर शब्द का अर्थ वेद में निर्देश नही किया गया है। परन्तु 'पुरु' का अर्थ शरीर यह किया गया है। यह सम्पूर्ण जगत ही परमात्मा का स्वरूप हीहै। अतः यहाँ पुरुष शब्द के द्वारा परमात्मा का ही ग्रहण किया जाता है। ध्यान साक्षात्कार हृदय प्रदेश में ही होता है। उस सर्वव्यापक

परमात्मा का मानव हृदय में साक्षात्कार होता है। वह अनन्त नेत्र, पाद, शिर से शोभित है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
तथा विष्वङ् व्यक्रामत्शाशनानशने अभि ।।

(ऋग्वेद १०।६०।४)

त्रिपात्-त्रीन्=जन्म जरा मृत्यून् पातयतीति त्रिपात्-अथवा त्रिषु कालेषु पद्यते प्राप्यते विद्यते इति वा त्रिपात्। अथवा त्रिषु लोकेषु पद्यते इति त्रिपाद्। अथवा त्रीणि ऋग्यजुषं साम च पादयति गमयति प्रापयति इति त्रिपाद्। पुरुषः-परमात्मा ऊर्ध्वं जन्मजरामृत्युरूपसंसारास्पृष्टः सन्नुदेति उदयति नित्यं विराजते।

१- जन्म जरा मरण तीनों की जो रक्षा करता है, वह त्रिपात् है।

२- तीनों कालों में जो प्राप्त होता है, जिसकी सत्ता रहती है, वह त्रिपाद् है।

३- तीनों लोकों में जो गम्यमान हो वह त्रिपाद् है।

४- ऋग्वेद, यजुः और साम प्राप्त कराता है वह त्रिपाद् है। वह त्रिपात् पुरुष परमात्मा जन्म जरा मृत्यु रूप संसार से रहित नित्य उदय होकर सुशोभित होता है। उस पुरुष की गति से संसार का सम्बन्ध ज्ञात होता है। असम्बद्ध होने पर भी जगत् की माया का उत्पादक होने के कारण सम्बन्ध उसी में है ही

चेतन अचेतन रूप से जगत् को वह आच्छादित किये हुए है, अपने बश में रखे हुए हैं ।

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥

(ऋग्वेद १०।६०।५)

इस मंत्र में उस विराट पुरुष से समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए । अतः पुरुष विराट् से भी अधिक है । 'जातः' का प्रयोग स्वयं मूल में ही विद्यमान है । यहाँ पुरुष के उत्पन्न होने की चर्चा की गयी है । उसी पुरुष से समस्त जगत व्याप्त है अतः अर्चा रूप में उसका पूजन विधान यदि साधक के द्वारा किया जाय तो इसमें असम्वैधानिकता नहीं कही जा सकती क्योंकि उसकी सत्ता को जब हृदय स्वीकार करता है, और वह हृदय-देश में विद्यमान है तो वह अन्दर क्यों नहीं होगा । इसका अर्चन वन्दन भी अवश्य होगा । इस प्रकार वेदों में सर्वत्र उस परमात्मा के अर्चा विग्रह कीं स्वीकृति वेद भगवान् सदैव स्वीकार करते हैं ।

इदं त एकं पर उ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा'
सं विशस्व । संवेशनस्तन्वे चारु रेधि प्रियो
देवानां परमे जनित्रे । ऋग्वेद १०।५६।१)

हे परमेश्वर ! यह दृश्यमान जगत् आपका एक शरीर है । और जड़ से भिन्न चेतन जीव रूप में आपका एक दूसरा स्वरूप है । तीसरा तुम्हारा शरीर प्रकाश स्वरूप है । प्रकाश

स्वरूप से तृतीय स्वरूप चेतन अचेतन दोनों रूप से प्रवेश करो। यह वैदिक सिद्धान्त है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को मानने वाले यह स्वीकार करते हैं। मंत्र के मूल में 'तन्वे' पद आया है, जिसका तात्पर्य जीव रूप में अर्थ है। यहाँ सप्तमी का अर्थ चतुर्थी है। "संवेशनः" सम्यग्वेशनं प्रवेशनं यस्य स त्वं चारुः सुन्दर एधि। सर्वं प्रविष्टोपि परमात्मा यदा श्रद्धयानन्यया च भक्त्या जीवेनोपासितः प्रवेशपदवीं लभते तदा जीव सौन्दर्य-समृद्धि तनुते।

संवेशन=का अर्थ अच्छी तरह प्रवेश पूर्वक सौन्दर्य को बढ़ाने वाले आप हो। अनन्य श्रद्धा और भक्ति द्वारा जीव उपासित प्रवेश पदवी को प्राप्त करते हो। अतः जीव में सौन्दर्य समृद्धि का दर्शन होता है, और जीव की सुन्दरता से परमात्मा भी सुन्दर की तरह प्रतिभासित होता है। परमात्मा का उपासक भी अन्य नहीं। वह परम भक्तों का प्रिय उपासकों को मुक्ति प्रदान करने वाला परमात्मा अपर प्रिय भक्तो को परम-धाम अवश्य देता है और वही उसके प्रिय होते हैं।

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशं विशं हि॥

(ऋग्वेद ७।४७।१)

यहाँ मंत्र मे शक्ति-शक्तिमान् की चर्चा की गयी है। यहाँ आप दोनों का आह्वान करती है। आप दोनों का आह्वान मैं अपनी रक्षा के लिएकरता हूँ। इसी प्रकार शक्तिमान भगवान्

राम जी सीता अर्थात् श्रीजी के सहित ही अवतरित होते हैं।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् शाकमिन्द्रः ।।

(ऋग्वेद० १०।१०३।१।)

सर्व ऐश्वर्य युक्त परमात्मा अनन्त बन्धनों को मात्र एक दृष्टिपात से समाप्त कर देता है। वह कैसा है? सर्वत्र व्यापक है। दुष्टों के लिए बहुत तीक्ष्ण है। सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, तथा अत्यन्त भयङ्कर भी है। (घनाघनः) सभी कामादि शत्रुओं को नष्ट करने वाला है। सन्मार्ग में जीवों को प्रेरित करने वाला है। दुर्जनों को रुलाने वाला है। **मिष स्पर्धायाम्** वह अद्वितीय बलवान है। उसके समक्ष कोई भी बलवान स्थिर नहीं रह सकता है।

प्रस्तुत मंत्र बड़ा ही सहेतुक है। जब वह प्रेरणा करता है। हमारे जीवन में शुभ लाने के लिए उसकी कृपा की वर्षा होती है, तब वह अवतार क्यों नहीं है? वह सब कुछ है। वह बलवान होकर जब हमारी रक्षा करता है तो अवश्य हमारी पूजा अर्चा का विषय क्यों नहीं हो सकता? जगत् की उत्पत्ति पालन एवं विलयन इन तीनों क्रियाओं के संपादन के कारण मात्र भगवान् ही हैं। वही ब्रह्म विष्णु, राम, शिव आदि संज्ञाओं को धारण करता है।

एक ही भगवान् की संज्ञाये ये सभी हैं। संज्ञा का भेद होने पर भी संज्ञी में कोई भेद नहीं होता।

ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो-
वेन आवः । (यजुर्वेद १३अ०, ३ मन्त्र)

"ब्रह्म शब्द बृंहति -बर्धयति प्रजाः" इस अर्थ में बृद्ध-यर्थक बृहू धातु से बृंहेर्नो अच्च (उ०सूत्र ४।१४६) से मनिन् प्रत्यय, नकार के स्थान में अदादेश करके यण् करके निष्पन्न होता है । बृद्धि उत्पत्तिका ही अर्थ है । सूक्ष्म बीज का अंकुरण भी बृद्धि ही है । विष्णु शब्द भी **वेवेष्टि व्याप्नोति इति,** विश् धातु से "विषेः किच्च" से (उ०३।३९) नुप्रत्यय करके निष्पन्न होता है ।

राम शब्द का भी व्यापक अर्थ में ही प्रयोग होता है । **"रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः"** उसी शायन विलायन, रमण द्वारा भगवान् की ये सभी क्रियायें तथा संज्ञाये हैं । उसी ब्रह्म की ही सर्वव्यापकता हो इन सभी संज्ञाओं में दिखाई पड़ती है ।

अतः उसी विष्णु-राम, शिव आदि सभी नामों का अधिष्ठान वह परब्रह्म परमात्मा ही है । उसे उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता । यह समस्त सृष्टि भगवान् की लीला है, यह सभी आचार्य प्रायः स्वीकार करते हैं । **"इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः"**

रामनामार्थ का वैशिष्ट्य—वस्तुतः लीला और क्रीड़ा ये दोनों (अमरकोश) पर्याय हैं । **'द्रवकेलिपरिहासाः क्रीड़ा लीला च नर्म च ।'** राम शब्द का मूलभूत स्वरूप रम् धातु

का अर्थ क्रीडा ही है। परमेश्वर संसार की जो भी क्रिया करता है उसके नामों की व्युत्पत्ति से जिन क्रियाओं का कर्तृत्व उसमें सिद्ध होता है, **सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः** (छान्दोग्य ३।१४।) इन श्रुति वाक्यों का कर्तृत्व जो भी भगवान् में सिद्ध होता है, वे सभी क्रियायें भगवान् श्रीराम की क्रीड़ा मात्र या लीला मात्र हैं। इन सब की निवृत्ति के लिए उनको कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उनकी इच्छा मात्र से संसार की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति, एवं उसके अन्दर अशेष जगत् की क्रियायें स्वयमेव सम्पन्न होती रहती हैं। इसी का बोधन करने के लिए श्रुति 'लेलायति' पद का प्रयोग किया है जो राम शब्द के द्वारा प्रकाशित होता रहता है। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रीराम में क्रीड़ात्व, लीलात्व होने के कारण उनके नाम की श्रेष्ठता सर्वत्र सिद्ध हो जाती है।

लीला विलासक्रिययोः (अमरः) क्रीड़ा का पर्याय लीला शब्द सामान्य क्रिया का भी बोधन करता है। सामान्य अधिक व्यापी होता है। अतः सहस्र नामावली में आये हुए सभी शब्दों के अर्थों में राम नाम परिव्याप्त है। अतः वह सर्व श्रेष्ठ सिद्ध होता है। अतः एव वेद भगवान् निश्चित रूप से राम जी का सदा स्मरण दिलाते रहते हैं।

ॐ प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्रारामेऽवोचमसुरे मघवत्सु।

(ऋग्वेद १०।९३।१४।)

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ।
(ऋग्० १०।३।३, साम०१५४८)

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन् ।
(ऋग्० १।१।७)

अघोरामः सावित्रिः (यजुर्वेद २६।५६)

नक्तं जागतास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च
[अथर्व० १।२३।१]

ऋग्वेद या अन्य वेदों में आये हुए राम शब्द में विशिष्ट तत्व विद्यमान है। क्रीडार्थक रम् धातु से राम शब्द की निष्पत्ति होती है। राम शब्द में तीन वर्ण आते हैं- रकार अकार और मकार। इकाई के बिना दहाई का निर्माण नहीं होता, उसी प्रकार र, अ, म्, ये तीनों वर्ण आनुपूर्वी वर्णों की सहायता करते हैं।

अवयव सहायक होते हैं। अवयव के विना अवयवी की कोई सत्ता नहीं होती है। एकाक्षरी कोष में वर्णों का अर्थ और उनकी सत्ता विद्यमान है। मंत्र महोदधि में मात्रिका निघण्टु रेफ के शक्ति वर्ण एवं अधिष्ठातृ देवता आदि का वर्णन किया है। **क्रोधिनी च भुजंगेशी ज्वाली रुधिर पावकौ। शोचिष्मान् दक्षिणांशश्च रुचिरो रेफ ईरितः ।।** इससे 'र' वर्ण के अधिष्ठातृ देवता ज्वाला माली पावक अग्निदेव कहे गये है। रेफ की व्याख्या अन्यत्र भी की गयी है, वर्णों द्वारा तंत्र में रेफ वर्ण का वर्णन किया गया है।

दक्षता कुण्डली रेखा बामे दक्षगताऽप्यधः ।
पुनर्दक्षगता द्वेधा ततोऽधोगत्य चोर्द्ध्वतः ।
भवानी शंकरौ वाह्निस्तासु तिष्ठन्ति नित्यशः ।
अर्ध मात्रा ब्रह्मरूपा महाशक्तिः प्रकीर्तिता ।।

दाहिनी ओर कुण्डलाकार होकर बायें मुड़कर नीचे होकर दाहिने ओर से नीचे झुककर ऊपर उठने वाली रेखा को (र) कहते हैं। अनेक भागों से यजमान द्वारा प्रदत्त हविष् को भस्म करके उनके रसों को देवताओं तक पहुँचाने वाले भगवान् अग्निदेव का निवास सदैव रहता है। इस रकार वर्ण का सार-भाग अनुच्चार्य होता है। जिसको अर्ध मात्रा कहते हैं, वह साक्षात् 'ब्रह्मरूपा' महाशक्ति है। उसका रक्त वर्ण है। राति= ददाति प्रापयति हविः सारं देवेभ्यः इति 'राः'। रा धातु से औणादि 'ड' प्रत्यय करने से 'र' वर्ण की निष्पत्ति होती है। अतः मेदिनी कोषकार ने र वर्ण का अर्थ पावक किया है। अर्थात् वह्नि बीज माना गया है।

मातृका निघण्टु में आकार को 'वात' का रूप माना गया है। अकार को वासुदेव का भी रूप माना गया है। **अकारो वासुदेवः स्यात्**। अकार मातृका वर्ण राशि का आद्य वर्ण है। इसके अधिष्ठातृ देवता वासुदेव माने गये हैं। **अतति सततं गच्छति** जो निरंतर सर्वत्र गतिशील है। अत धातु से ड प्रत्यय करने पर अ वर्ण निष्पन्न होता है।

वर्णोद्धार तंत्र में इस अकार का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया गया है।

दक्षतः कुण्डली भूत्वा कुञ्चिता वामतोगता ।
ततोर्ध्व संगता रेखा दक्षोर्ध्वा तासु शंकरः ।।
विधिर्नारायणश्चैव सन्तिष्ठेत् क्रमतः सदा ।
अर्धमात्रा शक्तिरूपा ध्यानमस्य च कथ्यते ।।

अर्थात् दाहिने से कुण्डलाकार होकर बायें मुड़कर ऊपर जाने वाली रेखा दक्षोर्ध्वा कुछ उन्नत दाहिने जाने वाली 'अ' तीन रेखाओं में ऊपर से क्रमशः शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु का निवास कहा गया है । इन तीनों से उत्पन्न होने वाली उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति इन तीनों क्रियाओं में गतिशीलता की व्याप्ति विद्यमान है । चलन ही एकमात्र क्रिया है और सभी उसका औपाधिक स्वरूप है, वह मात्र श्रीराममें ही दृश्य है। **'चलनात्मकं कर्म'** यह नैयायिकों का लक्षण है । चलन क्रिया के आश्रय वासुदेव हैं । उनके भी कारण परब्रह्म रामजी हैं ।

अतः ऋग्वेद के मन्त्रों में बार-बार राम नाम का ही स्मरण किया गया है ।

मकार का निघण्टु में निर्वचन किया गया है । **"मन्त्रेशो मण्डलो मानी विषस्सूर्यस्सकारकः"** यह मकार मन्त्रेश है । अतः प्रत्येक वर्ण जब मन्त्र का रूप धारण करता है—तो सर्वत्र अनुस्वार के रूपमें मकार का दर्शन होता है । इसके अधिष्ठातृ देवता सूर्य भगवान् हैं । **मीनाति हिनस्ति तमो यः** जो समस्त

अन्धकार को नष्ट करता है इस अर्थमें मीङ्. धातुसे औणादिक ड प्रत्यय करके म वर्ग की सिद्धि होती है। जिसका तात्पर्य सूर्य से है। राम शब्द र + अ × म् तीनों वर्णों के अधिष्ठातृ देव क्रमशः अग्नि, वायु एवं सूर्य हैं। यही अग्नि, वायु, सूर्य, (भू लोक,अन्तरिक्ष लोक,स्वर्ग लोक) तीनों श्रीरामजी में अनुस्यूत हैं। इन तीनों का बीज 'राँ' में व्याप्त हैं। अतः ऋग्वेद में **'केतवो रामविन्दन्"** [ऋग्वेद १६।११।७] **प्ररामेऽवोचममुरे मघवत्सु** [ऋग्वेद १०।६३।१४] बीज रूपमें रामजी के चरित्र का वर्णन किया गया है।

अतः सर्व शक्तिमान् ब्रह्मा कल्पादि में 'स्व' द्वारा सृष्टि व्यवस्थापन हेतु देव-तत्व यज्ञों का दोहन अग्नि, वायु, सूर्य [जिनके कारण श्रीरामजी है] से क्रमशः ऋग्, यजुः, साम, इन तीनों सनातन वेदों का अवश्य दोहन करते हैं। क्योंकि ये तीनों वेद सूक्ष्म रूप अग्नि, वायु और सूर्य से चले जाते हैं।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ ऋग् यजुः सामलक्षणम् ।।१।२३।।

अतः अग्नि शब्द का आरम्भ ऋग्वेदमें प्रथम हुआ है। **अग्निमीले पुरोहितम्०** [ऋग्वेद १।१]। यजुर्वेद के प्रथम मंत्र में **इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ** वायु देवता का स्मरण किया गया है। "अग्न आयाहि वीतये" सामवेदमें प्रथम आया हुआ अग्नि शब्द द्यु स्थानीय तेज तत्व अर्थात् सूर्य का उपस्थापक है। अग्नि को समर्पित किया जाने वाला हविष् का सार भाग 'रस'

सूर्य की किरणों द्वारा सूर्य मण्डल उपसंक्रान्त होता ही है। अत: उभय तेज तत्वोंमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वरविशेष से गान होता है तो उसे सामकी प्राप्त होती है। ऋक् और साम का मौलिक अन्तर नहीं है। ऋग्, यजु:, साम रूप वेदत्रयी से प्रजापति ब्रह्माजी ने "ओं"-कार रूप प्रणव के अकार उकार तथा मकार तीनों अवयवों का भू: भूव: स्व: तीनों व्याहृतियों का क्रमश: सार रूप में निष्कासन किया। गायत्री के तीन पादों का भी दोहन भगवान ने इन्हीं वेदोंसे किया। इन सबकी नींवमें श्रीरामजी ही विद्यमानहैं।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्वेद १।१६४।२२)

अजन्मा होते हुए भी वह जन्म ग्रहण करता है। रूपं रूपं मधवा वोभवीति माया: कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्। [ऋग्वेद ३।५३।७] प्राणियों के कर्मफल सिद्धि हेतु परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा अपनी माया द्वारा विविध रूप धारण करते हैं। इनका जन्म विचित्र एवं दिव्य होता है। ये इतरेतरजन्मा भी होते हैं। **"एष: प्रात: प्रसुवति"** प्रात: अग्नि से सूर्य की उत्पत्ति होती है। सायं सूर्य से अग्नि की "**अदितेर्दक्षो दक्षाबदिति.**" आदि वाक्य इसी के द्योतक हैं। देवस्वरूप उस परमात्मा के अंग और उपकरण भी चेतन ही होते हैं, जड़ नहीं। असन, वसन, एनग्, चन्दन, वनिता च्, आदि भोगमात्र संकल्प से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

अत: यहाँ सिद्ध हो गया कि सर्वैश्वर्य सम्पन्न, सर्वशक्ति सम्पन्न एक भगवान् अपने विभिन्न गुण क्रिया आदि भेद से अनेक

संज्ञायें [नामों] को धारण करते हैं और उन प्रवृत्त निमित्त भूत शक्ति के भेद से भिन्नता को लिए हुये वे नाम भी अपने जप आदि से स्वरूपानुरूप फल भी प्रदान करते हैं। अतः श्रुति भगवती अनुग्रह करती हैं—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । (तै० उ० २।६)

अतः उपरोक्त प्रघट्टकों से सिद्ध हो गया कि भगवान् का अर्चाविग्रह नाम वन्दन, दास्य, आत्म निवेदन भगवत्स्वरूप का ही बोधन करते हैं। अर्चा विग्रह उपासना में भी कीर्तन वाद्य आदि शास्त्र सम्मत हैं। भगवान् के मंगलमय नाम का उच्चारण एक गँवार से लेकर विद्वान तक के लिए सुलभ है। राजा-रंक, चण्डाल, राष्ट्रपति, चौकीदार जन्म की चेतनता से लेकर मृत्यु कालीन मूर्छा, रात दिन सोते-जागते, उठते बैठते प्रत्येक सुरक्षित है। ध्यान, जप, कीर्तन, वाद्य के योग से भी उसी परमात्मा का उत्कर्ष हमारे जीवन का ध्येय एवं पाथेय बनता है।

भगवान्के नामोंमें ही सृष्टि, स्थिति और लय की कारणता अवश्य ही विद्यमान है। उनके नाम चराचरात्मक संसार के समस्त व्यवहारों का सदा नियमन करते रहते हैं। अतः हमारे पुराणों में भगवदपेक्षया भगवन्नामों का महत्वातिरेक पर्याप्त मात्रा में वर्णन किया गया है।

वेद अपौरुषेय हैं— इनका अर्थ बिना इतिहास पुराण स्मृतियों के सम्भव नहीं हैं। और कोई अर्थ कर भी दें तो

अनर्थ ही करेगा। अतः वेदों की कुञ्जी इतिहास पुराण हैं। क्योंकि अनादि एवं अपौरुषेय होने से वेद हमारी सामान्य मेधा के विषय नहीं हो सकते। वेदों की भाँति पुराणों की सत्ता भी अनादि कालिक है। वेद इतिहास या कहानी या उपन्यास नहीं है जिसमें नायक,नायिका का चित्रण लिखा गया है। यहाँ राम-तत्व को बीज रूपमें ही उपस्थापित किया गया है। उस बीज की व्याख्या श्रीवाल्मीकि रामायण, पुराण, स्मृतियाँ आदि हैं। जिनमें उनके मर्यादा पुरुषोत्तमत्व की पूर्ण चर्चा विद्यमान है। पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि से वेदार्थ नहीं किया जा सकता। यदि कोई करता है तो अनर्थ ही करता है। अतः वेदों की व्याख्या करने के लिए कुञ्जी लेनी ही पड़ेगी। जैसे प्रणव त्रिदेवमय है। **'अकारो वासुदेवः स्यात्' 'उकारः शंकरः प्रोक्तः'** मकारः स्यात् चतुर्मुखः। (एकाक्षरीकोष) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म—(गीता)

रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च। (अथर्ववेद)
रकाराज्जायते ब्रह्मा रकाराज्जायते हरिः।
रकाराज्जायते शम्भूः रकारात् सर्व शक्तयः।। (पुलह संहिता)

रेफ प्रणव का भी कारण है अतः श्रीराम नाम में 'रा' वर्ण विशिष्ट है। इसमें 'अ' भगवान् राम और 'म' यह मन्त्रों में मूर्धन्य है।

रूपों का आधार— रूपों के बनाने वाली सूर्य किरणे हैं। ऋग्वेदमें "शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विष्णुरूपे अहनी-

द्यौरिवासि विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते दूषन्निह रातिरस्तु ॥ (ऋग्वेद ६।५८।१)

अर्थात् शुक्र शुक्ल रूप और यजत कृष्ण रूप ये दोनों रूप तुम्हारे ही हैं। तुम्हीं इन दोनों का निर्माण करते हो और रक्षा भी करते हो। इस मन्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्र और कृष्ण उन्हीं के संमिश्रण से सन्धि स्थान और रक्त रूप और फिर परस्पर मेल से विविध रूप बनते हैं। यहाँ पूषा देवता को रूप का कारण माना गया है। **इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्** तैत्तिरीय संहिता में इन्द्र सभी रूपों का बनाने वाला कहा गया है।

सूर्य किरण संसक्त देवता ही रूपों के उत्पादक कहे गये हैं। हमारी सनातन परम्परा में दूसरे के मन की बात जान लेने की चर्चा बहुत बार की गयी है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति से परिचित ज्ञान होता है। शतपथ के का० ३, अ० ४ प्र० २ कण्डिका ६ में लिखा हैं।

मनो देवा मनुष्यस्या जानन्तीति, मनसा संङ्कल्पयति तत्प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम् वातोदेवेभ्यः आचष्टे तथा पुरुषस्य मनः। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूकम्। मनसा संकल्पयति तद्वातमपि गच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

अर्थात् देवता लोग मनुष्य के मन को जानते हैं। मनुष्य मन में जो कुछ विचार करता है, वह उसके प्राण में चला जाता है। और प्राण बाहर के वायु में आता है। वह

वायु देवताओं को बता देता है, जैसा कि पुरुष का मन है।

इन बातों को सुनकर आधुनिक लोग प्रायः उपहास करते हैं और कहते हैंकि वेद मदारी का थैला है, या भानमती का पिटारा है जो बात देखी सुनी वह वेद में निकल पड़ती है। इस प्रकार वे वेद में कुतर्क करते हैं ।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" जो हमारे देह में है, वही समष्टि ब्रह्माण्ड में भी है ।

अतः सूक्ष्म दर्शिनी बुद्धि के द्वारा जिस प्रकार अद्वितीय चेतन तत्व का निश्चय होता है। भाव प्रवण हृदय के द्वारा उसी प्रकार उस सर्वेश्वरेश्वर का ग्रहण होता है। राग-द्वेष रहित पूर्वाग्रह शून्य बुद्धि देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न निर्विकार, निराकार, निर्गुण आत्मतत्त्व के सहित सगुण साकार अर्चारूप परमात्मा की मूर्ति का भी ग्रहण अवश्य ही करती है।

दृढ़ बोध मन एवं इन्द्रियों को अवश्य ही प्रभावित करता है। यदि आकार प्रकार मूर्ति का बोध दृढ़ हो जाय तो एक देश और एक काल में भी परमानन्द की प्राप्ति होती ही है। जीवन में और जगत् में विविधता है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार इस जगत् के संचालन के मूलमें कोई शक्ति अवश्य है। अतः सगुण सक्रिय विशिष्ट शक्ति अस्वीकार नहीं की जा सकती है। प्रायः संसार में देखा जाता है कि मनुष्य को विपत्ति के समय अनेक बार उस अदृश्य शक्ति की आकस्मिक सहायता का पूर्ण अनुभव अवश्य ही होता

है। वह परमात्मा अनन्तकाल से अगणित भक्तों की, आश्रितो की सहायता देता चला आ रहा है। उसे चाहकर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है भले वह बुद्धि ग्राह्य न हो।

परन्तु हमारे जीवन के पग-२ पर उसकी कृपा का सम्बल प्राप्त होता है, साधक भक्त उसका पूर्ण अनुभव करते हैं। उसी शक्ति के सहारे करोड़ों लोग जीने की शक्ति प्राप्त करते रहते हैं और जीवित हैं। वह आश्रय यदि टूट जाय तो वे भक्त धराशायी हो जायेंगे।

निर्गुण तत्व को मानने वाले दार्शनिकों ने भी जगत् को माना है। उसी रूप में जगत् का संचालन करने वाले ईश्वर को भी माना है। सभी दर्शनकार जगत् की विवेचना से ही चलते हैं। जगत् का द्वैविध्य यह कभी नहीं कहता कि यह किसी का प्रतिबिम्ब है। यदि परमतत्त्व सच्चिदानन्द न हो तो जड़ प्रकृति में सत्ता, प्रकाश और सुख आदि कहाँ से आवेंगे। वही सत् यहाँ सत्ता के रूपमें, तमो गुण के रूप में, चित् क्रिया का रूप लेकर रजो गुण के रूप में और आनन्द विषय सुक्र के रूप में प्रतिभासित होता है।

नाम-रूप लीला-धाम में मात्र कल्पना नहीं है। यह भेद निर्मूल एवं अकारण नहीं है। इसका कारण अवश्य है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि छाया में विकृति होती हैं। प्रतिविम्ब से विम्ब में बहुत भिन्नता होती है। जल की चंचलता और रंग प्रतिविम्ब को खण्डित, चंचल एवं रंगीन आदि अनेक रूप

में दिखा सकती है।

अतः सगुण तत्व श्रद्धैकगम्य है। शास्त्रों का तात्पर्य विशेष श्रद्धा भी है, जिसके द्वारा हमें तोष मिलता है।

श्रीभगवद् वाक्यके साथ उपासना सम्प्रदाय की मान्यता है कि भगवान् के सभी रूप नित्य हैं। इसका तात्पर्य है कि उनके धाम भी हैं। किसी भी श्रद्धा समन्वित भाव की परि-पुष्टता से भगवान् का दर्शन होता है। साथ ही भावना के अनुरूप भगवद् दर्शन होता है। इसका तात्पर्य है कि हमारी भावना उतनी बन सकती है, भगवान्के जितने रूप वेदों पुराणों एवं शास्त्रों में वर्णित हैं। भाव रूपमें मन उन्हीं को धारण करता है। ये सभी भाव स्तर भगवद्धामों के आश्रित हैं।

अब बिचार यह करना है कि कितने भगवद्धाम हैं और वे कहाँ-२ हैं। हम देश,काल, संख्या, परिमाण से अधिक सोच ही नहीं सकते हैं। धामों की गणना भी कर पाना अत्यन्त कठिन है, अतः उस अनिर्वचनीय तत्त्व का वर्णन करना है तो भगवान्के प्रत्येक सगुण साकार स्वरूप और उनके धाम हमारे सम्पूर्ण जगत् में, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में, अणु-अणु में सर्वत्र शाश्वत व्यापक है। अतः कभी किसी काल में, कहीं किसी स्थान पर, किसी भी अधिकारी भक्तके समक्ष भगवन् का कोई रूप या पूरा धाम प्रकट हो सकता है। वही दूसरों के लिए अदृश्य भी रह सकता है।

अतः स्पष्ट है कि हमारी जितनी भावनायें आती हैं

उनकी विकृतियों को दूर कर दिया जाय तो कितनी रहेगी, यह गणना कर पाना अत्यन्त कठिन है। मैं तो यही कह सकता हूँ कि मूल अविकृत भावना में परमतत्त्व के जितने रूप हैं, उतने सगुण साकार शाश्वत रूप और नित्य धाम बन सकते हैं। यही सगुण ही निर्गुण भी है। इनमें से प्रत्येक अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक परात्पर पूर्ण तत्त्व वेद प्रतिपादित ही हैं, अन्य कोई नहीं।

तदस्य प्रियमभिपाथो अस्यां नरो यत्र देवयवोमदन्ति।
ऊरुक्रमस्य हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।।

[ऋग्वेद १।१५४।५]

कण–२ में व्यापक "**विष्णु = वेवेष्टि व्यापनोति इति विष्णुः**" उरुक्रमस्य = विशिष्ट पराक्रम से परिपूर्ण शक्ति वाले, अस्य = विष्णु के परम प्रिय भक्ति मार्ग को, तत्—उस, प्रियम् परम प्रिय, पाथ—आकाश पर्यन्त लोक को, अभि अस्याम्—अवश्य प्राप्त करूँ, यत्र—जिस स्थल पर, देवयव—विजितेन्द्रिय साधक, नर—जन या भक्त, मदन्ति = परम आनन्द का अनुभव करते हैं। **विष्णोः परमे पदे** = परम पदमें, मध्व = मधुरस अर्थात् भक्ति से परिपूर्ण कृपा पीयूष, उत्सः = प्रवहमान है। इत्था = इस प्रकार से, हि = निश्चय ही, स बन्धुः = वह विष्णु लोक या साकेत लोक सभी को बन्धुत्वमें बाँधने वाला है। वैदिक परम्परा में उपासना या देव रूपमें भगवान् विष्णु ग्रहीत थे और हैं, यह स्वरूप वर्णन से ही स्पष्ट हो जाता है। गृऋग्वेदमें रक्षक

के रूपमें जीव उस परब्रह्म परमात्मा से निवेदन करता है कि आप हमारे रक्षक, सखा, मित्र हैं और मैं आपका पुत्र हूँ ।

"सखा यस्त इन्द्र विश्व ह स्याम" (ऋग्वेद ७।२१।६)

यहाँ नित्य सखा के रूपमें निवेदन किया गया है ।

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमान मुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र तेन राधः । [ऋग्वेद ७।२२।८

इस मन्त्र में ब्रह्म के तेज और महिमा का वर्णन किया गया है ।

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवानः ।

[ऋगवेद ७।५४।१]

इस मंत्र में उस परमपिता परमात्मा से आश्रित भक्त निवेदन करता है-हे जगन्नियन्ता ! हम आश्रितों की आप रक्षा करें । अथवा रक्षक रूप में हमें स्वीकार करें । हम तुम्हारे परायण हैं । अतः जन्म-मरण रूप रोग, भोग से मुक्त करें ।

न ते विष्णो जायमानो न जातो देवमहीम्नः परमन्तमाय
"श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" (ऋगवेद ७।६६।२)

उस अक्षर रूप ब्रह्म के विग्रह का ही ज्ञान करके ऋषियों ने उसी रूप में इनको इन मन्त्रों का दर्शन किया है। अतः उसी परमात्मा का वर्णन वेदों में उपलब्ध है । हमारे वैदिक साहित्य की व्याख्यायें, इसमें पूर्ण प्रमाण रूप में दृश्य हैं।

उस परमात्मा को अङ्क रूप में भी वेदों में उपदेश किया गया है, इसका वर्णन प्राप्त होता है ।

यथा—"एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा" (अर्थव०१०।७।६)

इसमें परमात्मा का वर्णन अङ्गत्व रूप में किया गया गया है। "स एव जातः स जनिष्यमाणः" (यजु०३२ ४)

उस सत् परमात्मा ने 'ईक्षण' किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। इस 'ईक्षण' शब्द को ऋग्वेद ने भी स्वीकार किया है। बहुत से मन्त्रों में **ईक्षण** का प्रयोग किया गया है। ईक्षण प्रतिपादयित्री भी श्रुतियाँ बहुत हैं।

"सं यज्जनान्क्रतुभिः शूर ईक्षयत्" (ऋग्०१।१३२।५।)

२–**"ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनमुत व्रजमपवर्तासि गोनाम्** (ऋग्वेद ४ २०।८)

३–**"नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वे ह्युग्र निचिकेषिद्रुग्धम्"** (अथर्व० १।१०।२)

४–**"बृहन्नेषात्रधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति"** (अथर्वं० ४।१६।१)

५–**"अतोविश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा ।।"**(ऋग्वेद १।२५।११)

६ **"विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभिपश्यत्यवा जुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान् ।।"** ऋग्वेद ६।७३।८।)

७–**'नकीमिद्रो निकर्तवे न शक्रः परिशक्तवे। विश्वं श्रृणोति पश्यति ।।"** ऋग्वेद ८।७८।५।)

८–**"विश्वाभि वि पश्यति भुवनासं च पश्यति। स नः पूषाविता भुवत ।।"** (ऋग्वेद ३।६२।६)

६–**"यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्ते नौदनेनातितराणि**

मृत्युम् ।।" अथर्व० ४।३५।६) इत्यादि उदाहरण विद्यमान हैं। सर्वत्र ब्रह्म ज्ञानस्वरूप से, **ईक्षण** कर्त्ता के रूप में प्रतिपादित है अतः स्पष्ट हो जाता है कि वेद में प्रमाण रूप से जगत् के जन्म आदि का हेतु ब्रह्म ही है। और वह चेतन है जीव भी चेतन है। जब वह परमात्मा सम्पूर्ण विश्व भुवनों को देखता है तो वही सब प्रकार से रक्षा भी करता है, यह श्रुति का तात्पर्य है।

१- अर्थात् जो परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा सामान्य नेत्र द्वारा सभी जीवों, पदार्थों आदि सभी को अच्छी तरह देखा।
२- हे परमेश्वर ! आप प्रजा के ज्ञान, धन, शुभाशुभ कर्म एवं उनके निवास के लिए पूर्ण समर्थ हैं। अर्थात् प्रजा के ज्ञान एवं पुण्यापुण्य के आप द्रष्टा हैं। और इन्द्रिय समूहों के अनिष्ट पथ पर जाने में निरोधक भी हैं।
३- उग्र वरुण राजन् ! दुष्टों के दण्ड प्रदान के समय दण्ड रूप में दया दिखाने में कुशल तथा पापियों और पाप समूहों को भी आप जानते हैं। **ते मन्यवे नमः इत्यर्थः**।
४- संसार के समग्र पदार्थों जीवों के बृहद् **अधिष्ठाता** अध्यक्ष परमात्मा के समीपस्थ होकर उन सभी पदार्थों को आप देखते है।
५- अतः विश्व के समस्त आश्चर्य कर्म और कर्तव्य और उत्पन्न होने वाले समस्त प्रज्ञा स्वरूप में आप सर्वथा देखते हैं।
६- आप सम्पूर्ण भुवनों को देखते हैं। सदाचारी और दुराचारी

को आप दण्ड भी देते हैं ।

७- परमप्रकाश स्वरूप परमात्मा के लिए कोई तिरस्कृत्य नहीं है । परम सामर्थ्यशाली, (कभी भी पराभव को न प्राप्त होने वाले) परम विलक्षण शक्ति सम्पन्न विश्व समूह के निवेदन को आप देखते और श्रवण करते हैं ।

१-"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु० ७।४२।)

२-"स रेतोधा वृषभः शाश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऋग्वेद ७।१०१।६।)

३-"आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः । प्रत्नं नि पाति काव्यम्" (ऋग्वेद ९।६।८)

१-(सरति गच्छति इति सूर्यः) **सर्वव्यापकः परमात्मा जगतो जङ्गमस्य तस्थुषो = जडस्यात्मेत्यर्थः ।**

सूर्य शब्द का अर्थ सर्वव्यापक, प्रकाशक परमात्मा है । वह जगत् के जंगम और जड़ प्रकृति का भी आत्मा है, यह अर्थ हुआ ।

२- वृषं = वृषयति धर्मं भाषयति इति वृषभः—धर्म प्रकाशकः । अर्थात् धर्म प्रकाशक, परमात्मा विषयक, बलधायक जगत का आत्मा है ।

३- यज्ञ का आत्मा अर्थात् आत्मभूत पुत्र ।

भक्ति अनुष्ठान काल में कहा गया है । भक्त की इच्छाओं का निष्पादन करने वाला **'पवते'** सभी को पवित्र करता है । भक्त रक्षण प्रतिज्ञा रूप से सब की रक्षा करता

है, यह ऋग्वेद का उद्घोष है ।

यहाँ विचारणीय है कि जब भक्तों की कामनाओं तथा प्रतिज्ञाओं की पूर्ति वह परमात्मा करता ही है, तो अर्च्य, पूज्य, वन्द्य क्यों नहीं होगा। अतः उसका अर्चा विग्रह सदैव पूजनीय है ।

बड़े समारोह के साथ उपासकों के प्रति परमात्मा परम कृपालु के रूप में दृश्यमान हैं । सुख की ओर प्रेरित करने का वर्णन वेद में विद्यमान है ।

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देवधृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ।।"
(ऋग्वेद १०।४५।९।)

अर्थ—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! देव आज आपका जो उपासक भक्त जिसका विशरण स्वभाव है आपके प्रकाश स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है । आप बड़ी तत्परता के साथ उसका रक्षण और पोषण प्राप्त करावें । तुम्हारी कृपा द्वारा द्वारा भक्त सर्वथा रक्ष्य है । जरामरणादि वर्जित परमेश्वर ! उस आपके उपासक को भक्ति की निष्ठा तथा सेवा की प्राप्ति करावें । यह बड़ा ही महत्वपूर्ण मंत्र है ।

इस मंत्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उस सद् स्वरूप का अर्चा रूप में कृपा का क्षरण भक्त के ऊपर सदा विद्यमान है ।

परमात्मा ही ज्योतिस्वरूप है— जीव कभी भी ज्योति

स्वरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि अथर्ववेद में मन्त्र है- यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभि दासातिष्ठतो वा चरतो जात वेदः॥ (अथर्व० ७।१०८।२) हे प्रभो ! सोते हुए अथवा जाग्रत अवस्था में मुझे जो दुःख देने वाले शत्रु हैं, उन्हें आप जला दें। इससे स्पष्ट होता है कि श्री सम्प्रदायानुसार जीव और ब्रह्म में रक्ष्य-रक्षक भाव सम्बन्ध है। जो दुःखी एवं निर्बल है वह ज्योति स्वरूप कदापि नहीं है। वेदों में सर्वत्र परमात्मा के लिए पति ईश्वर, रक्षक, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये प्रयोग न जीव में संगत हैं और न ही जड़ में। अतः परमात्मा ही ज्योतिः स्वरूप है।

सुख दुःख बाहर और भीतर दोनों ओर है, यह कल्पना सर्व प्रथम जीव ने ही किया। अतः वह अज्ञान की भी कल्पना कर लिया, अब सुख दुःख का कारण बाहर अन्वेषण करने लगा, यह हास्यास्पद है। कुछ लोगों का कथन है कि ग्रह की स्थिति बिगड़ जाने से सुख दुःख आते हैं। पर यदि विचार किया जाय तो ग्रहों की स्थिति भी बड़ी ही विचित्र है। १ मास में कम से कम तीन बार चन्द्रमा चतुर्थ, अष्टम, द्वादश स्थान पर रहता है। प्रत्येक महीने में चन्द्रमा आठ दिन अनिष्ट कर होता है। उसी प्रकार सूर्य वर्ष में तीन महीने अनिष्ट-करी रहते हैं। गुरु बारह वर्ष में, तीन वर्ष अनिष्टकर रहते हैं। राहु केतु बारह वर्ष में साढ़े सात वर्ष और शनि तीस वर्ष में बारह वर्ष अनिष्टकारी रहेगा ही।

इस प्रकार यदि आप ग्रहों के द्वारा दुःख का कारण मानते हो तो कोई भी दिन ऐसा है ही नहीं जब कोई अनिष्ट-कारी ग्रह न हो । नौ में से कोई न कोई अनिष्टकारी होता ही है । अतः कुण्डली में भाग्य को देखने वाला प्राय. दुःखी ही रहता है ।

इसी प्रकार यदि आप अपने शरीर का परीक्षण किसी भीं डाक्टर से करायें तो कोई न कोई विटामिन की कमी अथवा रोगाणु शरीर में अवश्य ही निकल आवेंगे ।

इसी प्रकार यदि शकुन शास्त्र के परिज्ञान में पड़े तो कभी बाईं आँख फरकने लगेगी और कभी दाहिनी । कभी बिल्ली मार्ग काटेगी और कभी छींक ही बाधा डालेगी । यदि इस पर विचार करें तो यह सभी कल्पित हैं, यह ज्ञान अपने आप हो जायगा। एक व्यक्ति के हाथ में पुत्र पुत्रियों की कई रेखायें हैं, पर संतान एक भी नहीं है । हमारा जैसा ज्ञान होता है उसी के अनुसार हमारी भावनायें भी बनती हैं । **"यथा विद्यात् तथा स्मृतिः"** हमारी जिस प्रकार की स्मृति होगी उसी प्रकार हमारी भावनायें बनेंगी ।

इन्हीं भावनाओं के द्वारा हमारे ऋषियों ने अपने तप एवं स्वाध्याय द्वारा मन्त्रों का दर्शन किया था । उहीं के आधार पर स्मृतियों का निर्माण किया गया है ।

अतः आज जो लोग कहते हैं कि वेद के अतिरिक्त किसी का महत्व नहीं है, उन्हें स्मृतियों की ओर देखना चाहिये

यही कारण है कि वैवस्वतमनु की चर्चा वेदों ने किया है।

"मनुर्वै यत्किंचावदत् तद्भेषजमेवावदत् ।"

कृष्णयजु० कठक स० स्थानक ११ अनु० ५ मन्त्र ९।

अर्थात् मनु ने स्मृति में जो कुछ कहा है वह मानव जीवन के लिए अमृत रूप औषधि के समान लाभ करने वाली बात है। उसका आचरण करके मानव देवत्व की ओर जा सकता है।

इक्ष्वाकु की भी चर्चा वेद में मिलती ही है।

'यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाकुः ।' अथर्ववेद १९।३९।९

मनु निर्दिष्ट जो समान फल अपने सुखी संपन्न एवं आचरणशील रहा है वह वर्तमान समाज में दिखाई ही नहीं पड़ता। अतः हमारी सुख संपन्नता भी खो गयी है।

वेदों में अर्चा तत्व एवं सगुणोपासनाः—

वेद मन्त्रों में सगुण तत्त्व एवं सगुणोपासना प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। श्रीरामजी के वंश तथा वैभव का पूर्ण वर्णन वेदों में प्राप्त होता हैं।

अधो रामः 'सावित्रिः ।' यजु० २६।५९, इस मंत्र में सूर्य वंशोद्भव रामजी का वर्णन किया गया है।

वेद में रामावतारः—

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसार जारो अभ्येऽति पश्चात्।
सुप्रकेतैद्युर्वाभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ।।

ऋग्वेद सं० १०।३।३१ सा०१५४८

यह मन्त्र अवतार परक है। इसमें पूर्ण रूप से भगवान् के अवतार की भावना की गयी है। ऋषियों ने अवतार रूप में इन मन्त्रों के दर्शन किये, उसी अर्चा रूप की भक्ति उपासना द्वारा आनन्द की प्राप्ति किया है क्योंकि वेद मन्त्र ज्ञान के प्रकाश है। उस प्रकाश को आनन्द रूप में अनुभव करना ही उपासना का रूप व्यक्त किया गया है। हमारे वेद मन्त्रों में अव्यक्त परमात्मा की ही अनेक रूप में अर्चना की गयी है। उसी को बहुदेववाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसको प्राप्त करके साधक भक्त अपने जीवन को कृतार्थ मानता है।

उस परमात्मा का एक लीला धाम भूतल पर तथा परमधाम त्रिपाद्‌विभूति कहा गया है। उसी को **"चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्"** का रूप प्रतिष्ठापित किया गया है। यही तत्त्वत्रय एवं राम मंत्र सभी का तारक है। इसी को वेद भगवान् प्रतिपादित करते हैं। वेद अपौरुषेय हैं। सृष्टि के आरम्भकाल से ही हैं, तो रामजी उसमें कैसे नहीं रहेंगे जब रामजी ही अनादि हैं। श्री जी भी अनादि हैं। अतः श्रुति अनुग्रह करती है।

"स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" वह परमात्मा बाहर भीतर दोनों ओर है। **'नेति नेति'** अनन्तकाल से चली आ रही ये सब भावनायें, उपासनायें, साधनायें सभी उसमें विद्यमान हैं। फिर भी उसमें कोई न्यूनता नहीं आती। **'अजरोऽमरोऽमृतो त्रयः** बढ़ापा मृत्यु आदि किञ्चित् नहीं हैं। वह बहुत मधुर है।

उसका आस्वादन मृत्यु से पार करने वाली है। अतः श्रुति ने परब्रह्म को **'रसो वै सः,** कहा है। उसका आनन्द आने पर संसार का रस सीठा हो जाता है। उस माधुर्याधिष्ठान के समीप उपासना, ध्यान, भक्ति प्रपत्ति के द्वारा ही पहुँचने का उपाय है।

उस परमात्मा को **"हिरण्यगर्भः,,** ऋग् १०।१२।१।१ कहा गया है। **हर्षते स्वप्रभया सदीपयते इति हिरण्यम् एतेषां हिरण्यानां गर्भः उपदत्ता हिरण्यगर्भः परमेश्वरः इत्यर्थः।** जो अपने प्रकाश से ही प्रकाशित परमेश्वर ही हिरण्यगर्भ कहा गया, वह अर्चा स्वरूप में ही ऋग्वेद में वर्णित है। मधु रूप में भी उस ब्रह्म का वर्णन किया जाता है। विष्णु रूप में भी उसका वर्णन किया गया है।

तदस्य प्रियमभिपाथो अस्मांनरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धु रित्थाविष्णो पदे परमे मध्वः॥

इस मन्त्र में भगवान् विष्णु को मधु कहा गया है। समस्त संसार को माधुर्य उपासना प्रदान करने वाले विष्णु भगवान् नर रूप में अवतरित होकर श्रीरामरूप से संसार के पाप और ताप को दूर किया। समस्त जीवों के आश्रय स्वरूप भगवान् नारायण वह इसी लिए कहे जाते हैं।

यच्च किंचित् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽथवा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(नारायणोपनिषद् ३१३)

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् (ऋग्वेद २।२२।२०)
विश्वं नियमयति इति विष्णुः
विशेषेण नूयते इति विष्णुः

जो भगवान् विष्णु समस्त संसार का नियमन करते हैं, वह विष्णु भगवान् सगुण एवं अर्चा तत्व में विराजमान हैं।

संसार से दुःख सुख दोहनः— साधक संसार से दुःख सुख का दोहन करता है अपने जीवन को इस प्रकार बनाना है कि संसार की कल्पना से हम दुःखित न हो ।

जैसे **रोड** पर मोटरें, साइकिलें तथा नर नारियों का यातायात लगा ही रहता है । वह कभी रुकता नहीं है। उसी प्रकार जीव के समक्ष भी आना जाना लगा ही रहता है। उसी में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की कल्पना होती रहती है । उसी प्रकार परमात्मा में भी सृष्टि प्रलय आते जाते रहते हैं इनका अन्त कहीं नहीं होता । यह सम्बन्ध क्षणिक है । जैसे रेल में यात्री मिलते हैं और थोड़ी देर में मित्र बन जाते है । यह संसार का सम्बन्ध भी उसी प्रकार से है । अतः संसार में आने पर मनको स्थिर रखने के लिए देवपूजा, बन्दन, आदि भी मन को तोष एवं शान्ति प्रदान करते हैं ।

वेदों में रामानन्द सम्प्रदाय के तत्व

वेदों में श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तत्त्व पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, मात्र उनका आकलन नहीं हो पाया है। शुद्ध ब्रह्म परात्पर श्रीराम का नामचिन्तन, **शरणागति, भक्ति, प्रेम**, उपासना रहस्य, पञ्चसंस्कार, परतत्त्व श्रीराम आदि का रहस्यात्मक रीति से वर्णन वेदों में प्राप्त है। नित्यानन्दस्वरूप चिन्मयब्रह्म में योगीजन सदा रमण करते हैं वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पद से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में उपास्य तत्त्व के रूप में श्रीराम नाम का निरूपण किया गया है–

'नाम उपास्व' (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।४)

'मनामहे चारुदेवस्य नाम।' (ऋग्वेद १।२४।१)

'मर्त्या अमर्त्यस्य ते नाम मनामहे।' (ऋ० ८।११।५)

"ॐ परंब्रह्म ज्योतिर्मयं नाम उपास्यं मुमुक्षुभिः"

ज्योतिर्मय परात्पर ब्रह्म श्रीरामस्वरूप की उपासना मुक्ति प्राप्त करने वालों को अवश्य ही करनी चाहिए—

'रामनाम जपादेव मुक्तिर्भवति' यजुर्वेद

श्रीरामनाम जप से ही मोक्ष होता है–

"यस्यनाम महद्यशः" (यजुर्वेद ३२।३)

श्रीराम का नाम ही महायशोरूप है–

ॐ इत्येकाक्षरं यस्मिन् प्रतिष्ठितं तन्नामध्येयं संसृतिपारमिक्षोः'

(सामवेद)

ओंकार स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म श्रीरामनामान्तर्गत हैं। अतः जिस श्रीराम नाम में ओंकार अनुस्यूत है, भवसागर पार करने के लिए उस श्रीराम नाम का ध्यान करना चाहिए।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।' (सामवेद)

सर्वाणि नामानि यमाविशन्ति (भाल्लेय श्रुति)

अन्त में सभी नाम श्रीराम में प्रविष्ट हो जायेंगे, जब अपना स्वरूप समझेंगे।

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम् ॥

(श्रीरामोपनिषद् १।५)

श्रीराम परम् ब्रह्म हैं, परम तपः स्वरूप हैं, परमतत्त्व स्वरूप हैं, समग्रसंसार के तारक हैं।

'नामानि ते शतक्रतो विश्वाभि गोभिरीमहे।

(अथर्व० २०।१६।३०)

परान्नारायणाच्चैव कृष्णात् परतरादपि
यो वै परतरः श्रीमान् स वै दाशरथिः स्वराट्।
जय मत्स्याद्यसंख्येयावतारोद्भव कारण।
ब्रह्मविष्णुमहेशादि संसेव्य चरणाम्बुज ॥

(वशिष्ठ संहिता)

श्री नारायण और कृष्ण से भी परे जो परतर परमात्मा है वे ही दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि से भी संसेव्य चरण कमल ! मत्स्यकूर्मादि असंख्य अवतारों के कारण

श्रीराम जी ! आपकी जय हो ।

यह श्रीराम नाम वेद रूपी समुद्र से उत्पन्न अमृत है। भूतभावन भगवान् श्री शंकर जी सादर इसी का चिन्तन, मनन करते रहते हैं ।

ब्रह्माम्भोधि समुद्भवम्………श्रीरामनामामृतम् ।

तन्त्रशास्त्र एवं कोष आदि के अनुसार रेफ अग्नि का बीज मन्त्र है तथा अकार आदित्य एवं मकार चन्द्रमा का बीज मन्त्र है ।

ऋग्वेद में श्री सम्प्रदाय (श्री रा० सं०) के विशिष्ट आचार्य श्री हनुमान् जी को 'रुद्रासः' के रूप में कई बार स्मरण किया गया है ।

सहस्र ……………………

रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः । स्पशः स्वंचः सुदृशो नृचक्षसः ।।

(ऋग्वेद ६।७३।७)

इन्हीं कवियों में रुद्र के अवतार श्री हूनुमान् जी भी हैं जो स्वभावतः अद्रोही (किसी से द्वेष न करने वाले) इषिर् = अद्भुत गति वाले, स्पशः—गुप्तचर (सीतान्वेषण तत्पर दूत) स्वंचः—बहुत सुन्दर संचरण वाले, नृचक्षः—मूर्तिमती सीता के प्रत्यक्षदर्शी हैं । लंका में भगवती सीता को श्री हनुमान जीने ढूढ़ लिया तथा दर्शन भी किया । वम्र अर्थात् वाल्मीकि की तरह महारुद्र भी रामायण (हनुमन्नाटक आदि) की रचना करने वाले हैं । किन्तु इनमें श्रीराम के प्रति दास्य भाव अधिक है अर्थात् श्रीराम चरणों में इनकी अगाधनिष्ठा है। यह तत्व भी श्री रामानन्द सम्प्रदाय से जुड़ा है । इति श्रीसीतारामार्पणमस्तु ।